हिन्दी त्रैमासिक

विवेक ज्योति

वर्ष २० अंक २

हृदय की पवित्रता से ही ईश्वर का दर्शन होता है। – स्वामी विवेकानन्द

मकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

निर्माण कार्य जैसा भी हो
सेन्चुरी सीमेंण्ट
सर्वोत्तम है
CENTURY'S
VISHWAKARMA
PORTLAND CEMENT
50 Kg. Nett.
सेन्चुरी सीमेन्ट द्वारा उत्पादित
'विश्वकर्मा' ब्रान्ड सीमेन्ट
शक्तिशाली पकड़ एवं दीर्घकालीन
टिकाऊपन के लिए विश्वसनीय सीमेन्ट है।
निर्माता-सेन्चुरी सीमेन्ट
पो. आ. बैकुण्ठ -493116 जिला: रायपुर (म.प्र.)
टेलेक्स: 0775-225 CCBIN ★ टेलीग्राम: 'CENCEMENT'
फोन: 23, 24, 25, 27, 28, 30, 34, 39.

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर

* १९९२ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सह-सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १५/-

एक प्रति ४/५०

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष २४५८९

अनुक्रमणिका

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३०] जुलाई-अगस्त-सितम्बर [अंक ३

★ १९९२ ★

भोगों की अनित्यता

भोगा भङ्गुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव-
स्तत्कस्येह कृते परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां
कामोत्पत्तिवशात् स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः।।

यह संसार विविध प्रकार के क्षणभंगुर भोगों से मिलकर बना है और इन्हीं के कारण जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े रहना पड़ता है। हे मनुष्यो! क्यों इनकी उपलब्धि के प्रयास में भटकते रहते हो! यदि हमारी बात मानो तो समस्त आशाओं एवं कामनाओं को तिलांजलि देकर अनन्य अनुराग के साथ मन को अपने स्वरूप अर्थात् आत्मा में समाहित करो।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्'—३९

अग्नि-मंत्र

(स्वामी अभेदानन्द को लिखित)

अमेरिका
१८९४

प्रिय काली,

तुम्हारे पत्र से सब समाचार ज्ञात हुआ, जिस तार के बारे में तुमने लिखा है, उसके 'ट्रिब्यून' में निकलने की मुझे कोई सूचना नहीं मिली। छः महीने हुए, मैंने शिकागो छोड़ा था और अभी तक मुझे वहाँ लौटने का समय नहीं मिला है। इसलिए मैं वहाँ के हाल की बराबर खबर न रख सका। तुमने बड़ा कष्ट उठाया है, उसके लिए मैं किस प्रकार धन्यवाद दूँ? तुम सबने काम करने की एक अद्भुत योग्यता दिखाई है। श्रीरामकृष्ण के वचन मिथ्या कैसे हो सकते हैं? तुम लोगों में अद्भुत तेज है। शशि व सान्याल के विषय में मैंने पहले ही लिखा है। श्रीरामकृष्ण की कृपा से कुछ भी छिपा नहीं रहता। अगर वे चाहें तो सम्प्रदाय-स्थापना आदि करें, इसमें क्या हानि है? **शिवा वः सन्तु पन्थानः**—'तुम्हारा पथ कल्याणमय हो।' दूसरी बात यह है कि तुम्हारे पत्र का अभिप्राय मैं नहीं समझ सका। अपने सबके लिए मठ बनाने को मैं स्वयं चन्दा जमा करूँगा, और यदि इस बात के लिए लोग मेरी निन्दा करें, तो इसमें मेरा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। तुम लोगों की बुद्धि कूटस्थ है, तुम्हें कोई हानि न पहुँचेगी। तुम लोगों का आपस में अत्यन्त प्रेम-भाव हो, जनता की टीका-टिप्पणी के प्रति उदासीनता का भाव हो, इतना ही पर्याप्त है। कालीकृष्ण बाबू को हमारे उद्देश्यों के प्रति अगाध प्रेम है और वे महान व्यक्ति हैं। उन्हें विशेष

रूप से मेरा स्नेह कहना। जब तक तुम लोगों में भेद-भाव न हो, प्रभु की कृपा से **रणे वने पर्वतमस्तके वा**—चाहे रण में, चाहे वन में, चाहे पर्वत के शिखर पर, तुम्हारे लिए कोई भी भय नहीं रहेगा। **श्रेयांसि बहु विघ्नानि**—'श्रेष्ठ कार्य में अनेक विघ्न होते हैं।' यह तो स्वाभाविक ही है। अति गम्भीर बुद्धि धारण करो। बालबुद्धि जीव कौन क्या कह रहा है, उस पर तनिक भी ध्यान न दो। उदासीनता! उदासीनता! उदासीनता! मैं शशि (रामकृष्णानन्द) को विस्तारपूर्वक लिख चुका हूँ। कृपा करके समाचारपत्र और पुस्तकें अब न भेजना। 'ढेंकी स्वर्ग में भी जाकर धान ही कूटती है'। देश में भी दर-दर भटकते फिरना और यहाँ भी वही। बोझा ढोना ऊपर से। बोलो, इस देश में किस तरह औरों की पुस्तकों के खरीददार जुटाऊँ? एक साधारण से व्यक्ति के सिवा और तो कुछ मैं नहीं। यहाँ समाचारपत्र आदि मेरे विषय में जो कुछ भी लिखते हैं, उसे मैं अग्निदेव को समर्पित करता हूँ। तुम भी वही करो, यही वाजिब तरीका है।

गुरुदेव के काम के लिए जनता में कुछ प्रचार-प्रदर्शन की आवश्यकता थी। वह हो गया, अच्छा हुआ। अब तुम लोग ऐरे-गैरे लोगों की बकवास पर बिलकुल ध्यान न देना। चाहे मैं धन एकत्र करूँ या कुछ और करूँ, क्या ऐरे-गैरे मनुष्यों का मतामत प्रभु के कार्य में रुकावट डाल सकता है? भाई, तुम अभी बालक हो और मेरे तो बाल सफ़ेद हुए जा रहे है। ऐसे लोगों की बातों और मतामत पर मेरी श्रद्धा का अदाज तुम इसी से लगा लो। चाहे सारा संसार एक होकर भी हमारे विरुद्ध खड़ा हो जाय, जब तक तुम लोग कमर कसकर मेरे पीछे हो, हमें किसी बात का डर नहीं। मैं

इतना समझ गया हूँ कि मुझे बहुत ही ऊँचा आसन लेना पड़ेगा। तुम लोगों के सिवाय और किसी को पत्र नहीं लिखूँगा। गुणनिधि कहाँ है? उसे ढूँढ़कर यत्नपूर्वक मठ में लाने की चेष्टा करना। वह बड़ा विद्वान और सच्चा मनुष्य है। तुम ज़मीन के दो प्लाट लेने की व्यवस्था करो, लोग चाहे जो कहें, कहने दो। मेरे पक्ष या विपक्ष में समाचारपत्रों में कौन क्या लिखता है लिखने दो, तुम उसकी बिलकुल परवाह न करो। और भाई, मैं बार-बार तुमसे विनती करता हूँ कि टोकरे भर-भर कर समाचारपत्र मुझे न भेजा करो। इस समय विश्राम की बात तुम कैसे कर सकते हो? जब हम इस शरीर को त्यागेंगे, तभी कुछ दिनों के लिए विश्राम करेंगे। भाई, अपने उस प्रचण्ड तेज से एक बार जोरदार महोत्सव कर दिखाओ। चारों ओर धूम मच जाये! वाह बहादुर! शाबास! प्रेम का प्रचण्ड प्रवाह परिहास करने वालों के समूह को बहा देगा। तुम हाथी हो, चींटी के काटने से तुम्हें क्या डर है?

वह अभिनन्दन-पत्र जो तुमने मुझे भेजा था, बहुत पहले ही मुझे मिल गया था। उसका उत्तर भी मैंने प्यारी मोहन बाबू को भेज दिया है।

हमेशा याद रखो—आँखें दो होती हैं और कान भी दो, परन्तु मुख एक ही होता है। उदासीनता, उदासीनता, उदासीनता! **न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति** (श्रीमद्भगवद्गीता ६/४०)—'हे तात, सुकर्म करनेवाला दुर्गति को कभी प्राप्त नहीं होता।' डर किसका! किनका भय रे भाई? यहाँ, मिशनरी-विशनरी सभी चिल्ला-चिल्ला कर अब मौन हो गये हैं और दुनिया भी ऐसा ही करेगी।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

—'नीति में निपुण लोग चाहे प्रशंसा करें या निन्दा, लक्ष्मी चाहे अनुकूल हों या अपने मनमाने मार्ग पर जायँ, चाहे मृत्यु आज आये या सैकड़ों वर्ष बाद, धैर्यवान व्यक्ति कभी न्याय के पथ से विचलित नहीं होते ?'

ऐरों-गैरों से न तो मिलने की कोई आवश्यकता है और न कुछ माँगने की। प्रभु सब जुटा रहे हैं और भविष्य में भी जुटायेंगे। भय किस बात का है मेरे भाई? सभी बड़े-बड़े कार्य प्रबल विघ्नों के बीच ही हुआ करते हैं। **हे वीर, स्मर पौरुषमात्मनः उपेक्षितव्याः जनाः सुकृपणाः कामकांचन-वशगाः**—'हे वीर, अपने पौरुष का स्मरण करो, कामकांचनासक्त दयनीय लोगों की उपेक्षा ही उचित है।' अब इस देश में मैं दृढ़प्रतिष्ठ हो गया हूँ, इसलिए मुझे सहायता की आवश्यकता नहीं है। परन्तु तुम सब लोगों से मेरी एक यही प्रार्थना है कि मेरी सहायता करने की उत्सुकता में भ्रातृप्रेम के कारण तुम लोगों में जो क्रियात्मक पुरुषार्थ उत्पन्न हो गया है, उसे प्रभु के कार्य में लगाओ। जब तक तुम निश्चित रूप से न जान लो कि वह हितकर होगा, तब तक अपने मन का भेद न खोलो। बड़े से बड़े शत्रु के प्रति भी प्रिय और कल्याणकारी शब्दों का उपयोग करो।

नाम, यश और धन के भोग की इच्छा स्वभावतः ही जीव में है, उससे यदि दोनों पक्षों का काम हो तो सभी आग्रही होते हैं। **परगुणपरमाणुं पर्वतीकृत्य, अपि च** त्रिभुवन के उपकार मात्र की इच्छा केवल महापुरुषों को ही होती है।

इसलिए विमूढ़मति, अनात्मदर्शी, तमसाच्छन्न-बुद्धि जीव को उसकी अपनी बालचेष्टा करने दो। गरमी महसूस होने पर वे स्वयं ही भाग जाएँगे। चाँद पर थूकने की चेष्टा करें—**'शुभं भवतु तेषाम्'** (उनका मंगल हो)। अगर उनमें सार हो तो उनके साफल्य में बाधा कौन डाल सकता है? लेकिन अगर ईर्ष्या के वशीभूत होकर केवल आस्फालन भर करें, तो सब निष्फल हो जाएगा। हरमोहन ने जप-मालाएँ भेजी हैं। बहुत अच्छा। परन्तु तुम्हें यह जानना चाहिए कि उस प्रकार का धर्म, जो हमारे देश में प्रचलित है, यहाँ नहीं चल सकता। उसे लोगों की रुचि के अनुकूल बनाना होगा। यदि तुम उनसे हिन्दू बनने को कहोगे, तो वे तुमसे दूर भागेंगे और तुमसे द्वेष करेंगे, जैसा कि हम ईसाई धर्मोपदेशकों से करते हैं। उन्हें हिन्दू शास्त्रों के कुछ विचार प्रिय लगते हैं, बस, इतनी ही बात है, इससे अधिक कुछ नहीं। अधिकांश पुरुष धर्म के लिए माथापच्ची नहीं करते। महिलाओं को कुछ रुचि है, किन्तु अधिक मात्रा में नहीं। दो-चार हजार व्यक्तियों को अद्वैत मत में श्रद्धा है। परन्तु पोथी, जात-पात, स्त्रियों की निन्दा आदि की बातें करो, तो वे तुमसे किनारा काटेंगे। सभी काम धीरे-धीरे होते हैं। धैर्य, पवित्रता एवं अध्यवसाय।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

मनुष्य का ईश्वरत्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है।—(स.)

मेरे एक परिचित हैं। धर्म प्रेमी हैं, ईश्वर-भक्त हैं, सत्संग में जाते हैं। उस दिन घबड़ाए हुए से मेरे पास आये। कहने लगे—"गजब हो गया! मनुष्य तो ईश्वर हो गया!" मैंने पूछा—"क्या बात हैं?" बोल उठे—"अरे भाई, सृष्टि पैदा करने का काम ईश्वर का है, पर देखो, आज मनुष्य विज्ञान के सहारे नयी सृष्टि रच रहा है—नये उपग्रह बनाकर अन्तरिक्ष में छोड़ रहा हैं। चन्द्रमा पर तो वह चला ही गया, अब मंगल में जाने की तैयारी कर रहा है। 'टेस्ट ट्यूब बेबी' का प्रयोग भी एक अंश में सफल हो ही गया। कल अब इस प्रयोग के सफल होने में क्या देरी है कि माता के गर्भ का सहारा न होते हुए शिशु का जन्म प्रयोगशाला में हो जाय?" मैंने फिर से पूछा—"तो इससे क्या हुआ? आप इतने उद्विग्न क्यों हैं?" वे बोले—"क्यों, तब ईश्वर का स्थान कहाँ रहेगा? अगर मनुष्य ही ईश्वर की ताकत पाकर ईश्वर का सारा काम करने लगे तो ईश्वर की क्या आवश्यकता रहेगी? तब तो धर्म के अभाव में अनैतिकता का बोलबाला हो जाएगा।" मैंने कहा—"आज क्या अनैतिकता का बोलबाला नहीं है? जो लोग अपने को

ईश्वर-भक्त और धार्मिक प्रदर्शित करते हैं, वे क्या अनैतिक कार्यों में लिप्त नहीं हैं? केवल विज्ञान की उन्नति से ही अनैतिकता बढ़ जाएगी?"

इस प्रकार का विचार रखने में मेरे वे परिचित व्यक्ति अकेले नहीं हैं, बल्कि बहुत से लोग ऐसा ही सोचते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म को विज्ञान से ख़तरा दिखाई देता है। पर सही बात यह है कि धर्म को विज्ञान से नहीं, अनैतिकता से खतरा है। जो धर्मध्वजी हैं, धर्म का झण्डा तो फहराते हैं पर अधर्म का आचरण करते हैं, ऐसे लोगों से धर्म और ईश्वर को खतरा है। यदि विज्ञान मनुष्यों में निहित असीम शक्ति को प्रकट कर रहा है, तो वह वेदान्त के इस सिद्धान्त की ही तो पुष्टि कर रहा है कि जीव शिव है, हर आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य ईश्वर के ही समान सब कुछ करने में समर्थ है, उसमें अनन्त शक्ति है, पर अज्ञान के कारण वह अपने ईश्वरत्व का बोध नहीं कर पाता। मनुष्य दो धरातलों पर कार्य करता है—एक है शरीर का और दूसरा मन का। यदि वह अज्ञान के बन्धनों को काट सके तो वह दोनों धरातलों पर असीम शक्तिसम्पन्न हो जाएगा। शरीर भौतिक धरातल है और इसी पर विज्ञान की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। यह जो मनुष्य नयी सृष्टि रच रहा है, उपग्रह बना रहा है, यह इसी सत्य की पुष्टि करता है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति है। यह जैसे बाहरी जगत के सन्दर्भ में सत्य है, वैसे ही भीतरी जगत के सन्दर्भ में भी। यदि किसी दिन गर्भ के बाहर प्रयोगशाला में स्वस्थ शिशु का जन्म हो जाय, तो उससे ईश्वर को कोई आँच न आएगी, बल्कि मनुष्य का ईश्वरत्व और सिद्ध हो जाएगा।

गड़बड़ी इसलिए उत्पन्न होती है कि हम ईश्वर को व्यक्तिविशेष समझते हैं और कल्पना करते हैं कि वह कहीं विराजित होगा और वहाँ से विश्व का काम-काज चला रहा होगा। ईश्वर वास्तव में ऐसा नहीं है। वह तो विश्व में सर्वत्र व्याप्त 'सर्वानुस्यूत नियम है, जिसे बुद्ध ने 'धम्म' कहकर पुकारा। आइंस्टीन की भाषा में कहें तो वह Supreme Intelligence यानी 'महत्-बुद्धि' है। जैसे धर्म इस 'महत्-बुद्धि' अथवा 'सर्वव्यापी नियम' की खोज है, उसी प्रकार विज्ञान भी इसी की खोज है। विज्ञान, ज्ञान की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति को कहते हैं। जब हम इन्द्रियग्राह्य जगत को छानबीन का विषय बनाकर उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ने जाते हैं, तो वह 'विज्ञान की प्रणाली' कहलाता है और जब मन को खोज का विषय बनाकर उस ओर बढ़ते हैं, तो वह 'धर्म की प्रणाली' के नाम से जाना जाता है। अज्ञान की परतें यदि हट जाएँ तो मनुष्य का छिपा हुआ ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है। मनुष्य अनैतिक इसलिए हो जाता है कि वह अपने को मात्र देह में आबद्ध एक प्राणी मानता है। इसीलिए वह स्वार्थकेन्द्रित हो जाता है। पर यदि उसमें अपने ईश्वरत्व का बोध जागे, तो वह अपने स्वार्थ की संकीर्ण सीमा से ऊपर उठेगा और अधिक व्यापक दृष्टि का अधिकारी बनेगा। धीरे-धीरे वह अपने निहित सत्य को बाहर दूसरों में भी देखने में समर्थ होगा। इसी को मनुष्य के ईश्वरत्व का जागरण कहते हैं।

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

उन्तालीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुडगाछी कलकत्ता में नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय रायपुर में अध्यापक हैं।—स.)

ज्ञान और भक्ति

जो भक्त सगुण ईश्वर की उपासना करते हैं, वे ईश्वर से जैसी प्रार्थना करते हैं, वे तदनुसार ही फल देते हैं। उनका सगुण भाव माने बिना इन सब बातों की कल्पना तक नहीं की जा सकती। जो निर्गुण हैं, उनके सामने भक्ति, भक्त, इत्यादि कुछ भी नहीं रह जाता। इसीलिए ब्राह्मसमाज सगुण निराकार ब्रह्म में विश्वास करता है। डॉ. सरकार भी इसी भाव के थे, इसीलिए उनमें ज्ञान-मिश्र भक्ति थी, उसमें विचार का स्थान है। उन्होंने विशेष रूप से विज्ञान का अध्ययन किया है, अतः उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, कुछ जानना हो तो उसे ठोक-बजाकर देख लेते हैं। ठाकुर के साथ यहाँ उनके वार्तालाप में यही भाव व्यक्त हो रहा है। भक्तिभाव की हँसी करते हुए वे कहते हैं, "ज्ञान होने पर मनुष्य अवाक् हो जाता है, आँखें मुँद जाती हैं और आँसू बह चलते हैं। तब भक्ति की आवश्यकता होती है।" ज्ञान में

मनुष्य अवाक् हो जाता है क्योंकि तब भगवान की गहनता और अनन्त भाव-वैचित्र्य का बोध होता है अथवा ज्ञान मन-बुद्धि को निरस्त कर देता है और ये जहाँ पहुँचना है, वहाँ पहुँच नहीं पाते, भगवान के स्वरूप का विचार कर अवाक् रह जाते हैं। इसके बाद वे हँसते हुए कहते है, "ज्ञान होने पर मनुष्य अवाक् हो जाता है, आँखें मुँद जाती हैं और आँसू बह चलते हैं।" भक्ति के ये लक्षण उसमें प्रस्फुटित हो उठते हैं। इसलिए कहते हैं—तब भक्ति की आवश्यकता होती है। अर्थात् पहले ज्ञान और उसके बाद भक्ति के लक्षण व्यक्त होते हैं।

ठाकुर भी उनके साथ विनोद करते हैं। कहते हैं, "भक्ति स्त्री है, इसीलिए अन्तःपुर तक उसकी पैठ है। ज्ञान बहिर्द्वार तक ही जा सकता है।" बहिर्द्वार से तात्पर्य है जहाँ तक विचार की सीमा है, ज्ञान वहीं तक जा सकता है। हृदय के अन्तःपुर में ज्ञान को नहीं, केवल भक्ति को ही प्रवेश प्राप्त है। विचार को पार करके जहाँ पहुँचा जाता है, भक्ति वहाँ अबाध रूप से विचरण करती है।

भक्तिवाद में कहा जाता है, भक्त भगवान का आस्वादन कर सकता। ज्ञानी तो केवल उनके बाह्य आचरण पर ही विचार करता है, उनका रसास्वादन नहीं कर पाता। चैतन्य-चरितावली में विनोद करते हुए कहा गया है कि भक्त-कोकिला प्रेमरूपी आम्रमुकुल का भक्षण करती है और ज्ञानी काक कटु नीम के फल खाता है, जिसके स्वाद में मिठास नहीं है। यह भक्त की दृष्टि से ज्ञानी का उपहास है। फिर ज्ञानी की दृष्टि से भक्त का उपहास भी किया गया है। ठाकुर को हाथ से ताली बजाकर भगवन्नाम करते देख तोतापुरी कहते हैं, "क्यों रोटी ठोंकते हो?" क्योंकि तब भी

उन्हें उस रस का आस्वादन नहीं मिला था। फिर ज्ञान का जो माहात्म्य है तथा उसके द्वारा भी भगवान का जो आस्वादन किया जाता है, भक्त उसका अनुभव नहीं कर पाते। अनुभव नहीं करने के पीछे भी एक युक्ति है। ज्ञानी कहते हैं, "मैं ब्रह्म हूँ।" जो ब्रह्म है वह भला भगवान का किस प्रकार आस्वादन करेगा? रामप्रसाद के भजन में एक पंक्ति है, "माँ, मैं चीनी होना नहीं चाहता, चीनी खाना पसन्द करता हूँ।" भक्ति के द्वारा उनका आस्वादन होता है। ज्ञान में ज्ञानी का भगवान के साथ कोई पार्थक्य नहीं रहता। वहाँ 'तुम' और 'मैं' का भेद नहीं रहता था। आस्वादन के लिए दो का होना आवश्यक है। ज्ञानी भक्त का परिहास करते हुए कहता है, भक्त कुछ भी नहीं समझता, केवल आँखों में आँसू भरे रोता रहता है। स्वामी विवेकानन्द भी कई बार इसी तरह का परिहास करते थे। पर उनकी इन दो-एक बातों को लेकर उन्हें नहीं समझा जा सकता । उनके बाह्य व्यक्तित्त्व पर ज्ञान का आवरण था, पर अन्तःकरण भक्तिमय था। वे स्वयं भी कम नहीं रोये हैं, परंतु हँसी में वे कहते—केवल रोना ही रोना। शास्त्र अध्ययन, वेद-वेदान्त की चर्चा करनी होगी, न्यायशास्त्र की सहायता लेनी होगी, तभी तो भगवान के तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ जानोगे सो तो नहीं, बस केवल रोना। सब बच्चों के दल हैं।

यदि कोई किसी पथ का अनुसरण किए बिना ही उस पर टिप्पणी करता है, तो यही उसका भ्रम है। लेकिन यदि कोई ज्ञान के पथ का अनुसरण करने के पश्चात् उस पर मत दे, तो वह ग्रहणीय होता है। अथवा भक्ति की चरम अवस्था में पहुँचकर यदि कोई भक्ति के बारे में कटाक्ष करे, तो

उसका मूल्य होता है; एक दूसरे के मार्ग को जाने बिना ही उस पर मत व्यक्त करना तो केवल मूल्यहीन परिहास में परिणत हो जाता है।

ज्ञान-भक्ति के सम्बन्ध में ठाकुर के परिहासपूर्वक बोलने के बाद डाक्टर कटाक्ष करते हैं, "परन्तु अन्तःपुर में हर स्त्री को घुसने नहीं दिया जाता।" अर्थात् भक्ति के अतिरेक में भगवान के सम्बन्ध में कोरी कल्पना करके आँखों से आँसू बहाने मात्र से कुछ नहीं होता। विचार करके देखिए। जो लोग इस तरह भक्ति का अतिरेक प्रदर्शित करते, स्वामीजी उनकी हँसी उड़ाते थे। परंतु मूल बात यह है कि हमें जिनकी भक्ति करनी है, उनके बारे में यदि हमें कुछ ज्ञान नहीं है तो फिर भक्ति कैसे करेंगे? "मैं ज्ञान नहीं चाहता शुद्ध भक्ति चाहता हूँ।" ठाकुर कहते है, "यह कैसी बात है रे, जिसकी भक्ति करेगा, उसे जाने बिना कैसे भक्ति करेगा?"

बात बड़ी ही युक्तियुक्त तथा सहज बोध है। जिनकी भक्ति करनी है, उनके बारे में कुछ जाने बिना भक्ति कैसे होगी? अतः उन्हें जानना होगा। भक्ति शास्त्र में कहा है, साध्य-साधन तत्त्व को जानो। इसीलिए भक्ति शास्त्र में स्वाध्याय पाठ और विचार आदि हैं। वस्तुतः हम मनुष्य हैं, विचार बुद्धि की ओर झुकाव हमारा जन्मजात स्वभाव है। भक्त होने पर भी, पथ ठीक है या नहीं, यह तो विचार के द्वारा ही निश्चित करना होगा। अन्ततः ज्ञान का बेड़ा लगाये बिना भक्ति टिक नहीं सकेगी। एक आश्चर्य की बात है कि भक्तिप्रधान बंगाल में न्यायशास्त्र सर्वाधिक उन्नत और प्रभावशाली हुआ है। यद्यपि प्राचीन न्याय का जन्म मिथिला में हुआ था, परन्तु नव्यन्याय के रूप में वह

नवद्वीप में ही परिपूर्णता को प्राप्त हुआ। उस तर्कजाल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुत्थियों में असाधारण पण्डित का भी सिर चकरा जाता है। न्यायशास्त्र के पण्डित वेदान्ती नहीं, भक्त थे। न्याय की सहायता से उन्होंने वेदान्त के सिद्धान्त का खण्डन किया। फिर वेदान्तियों ने भी उनका खण्डन किया है। इसी प्रकार एक विशाल दर्शनशास्त्र तैयार हो गया है। जो लोग उन सबमें अपनी शक्ति बरबाद न कर तत्त्व का आस्वादन करना चाहते हों, वे चाहे भक्त हों या ज्ञानी, उन्हें इतना विचार करने की आवश्यकता नहीं। ठाकुर ने कहा है, "स्वयं को मारने के लिए एक नहरनी ही काफी है और दूसरों के साथ युद्ध करना हो तो ढाल-तलवार की आवश्यकता होती है।"

अपने सिद्धांत में निष्ठा

असल में बात यह है कि हमें जिस सिद्धांत का अनुसरण करना है, उस पर हमारा दृढ़ विश्वास होना चाहिए। यह विश्वास किसी के लिए तो स्वाभाविक होता है और कोई-कोई हजार बार विचार करके भी इस विश्वास को दृढ़ नहीं कर पाता। यह विचार हमारे धार्मिक प्रवृत्ति की गम्भीरता के ऊपर निर्भर करता है। मन यदि शुद्ध हो तो 'तुम ब्रह्म हो'—यह गुरुवाक्य सुनते ही तत्काल अनुभव हो जाएगा कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। विचार करके देखना नहीं पड़ेगा वरन् एक ही बात में ज्ञान हो जाएगा। वेदान्तवादी कहते हैं कि भाषा यदि कोई समझता हो, तो उसको 'तुम ब्रह्म हो' यह एक वाक्य सुनकर ही ज्ञान हो जाएगा। यह गुरुवाक्य सहज है, परन्तु सहज वाक्य को समझने के लिए हजारों-हजार ग्रन्थों की रचना हुई है, तथापि अब भी

उसकी मीमांसा नहीं हो सकी है। इसका कारण यह है कि विश्वास आसानी से नहीं होता। इसी विश्वास को दृढ़ करने के लिए ज्ञानी अपनी विचार की धारा को और भक्त अपने भक्ति शास्त्र को बढ़ाते चले जा रहे हैं। जो रसास्वादन करना चाहते हैं वे इतने युक्ति विचार के भीतर नहीं जाते। हम इस जगत को प्रत्यक्ष देख रहे हैं, तथापि दार्शनिक कहते हैं कि इस जगत का अस्तित्त्व नहीं है। तब क्या हम सोचते हैं कि अब क्या होगा? कहाँ रहेंगे? तब तो हम उसकी हँसी उड़ाते हुए कहते हैं कि वह कल्पना की दुनिया में है। ठीक इसी तरह भगवान के अस्तित्त्व में जो लोग दृढ़ विश्वासी हैं उनके लिए इतनी युक्तियों की आवश्यकता नहीं है, उहोंने उनका अनुभव किया है, आस्वादन किया है।

अनुभूति और तत्त्वज्ञान

इस सम्बन्ध में एक बड़ी सुन्दर बात है। प्रश्न उठा कि ज्ञानी का लोकव्यवहार कैसे चलता है? जब ज्ञानी के ज्ञान द्वारा संसार का लय हो जाता है, उसके बाद उसका व्यवहार कैसे चलेगा? अद्वैतवादियों ने इस विषय में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, तो भी विषय को समझाया नहीं जा सका है। शंकराचार्य कहते हैं, **दृष्टेन अनुपपन्नं नाम**—जो दिखाई दे रहा है, वह भला अयौक्तिक कैसे होगा? उसे अयौक्तिक कहने का कोई अर्थ नहीं है। युक्ति दुर्बल है, प्रत्यक्ष प्रबल है। ज्ञानी व्यवहार करते हैं, यह तो देखने में आता ही है, अतः उसका व्यवहार सम्भव है या नहीं, ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रत्यक्ष ही असल आधार है, विचार उसी पर प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार ज्ञान अथवा भक्ति चाहे जिस भी माध्यम से,

जिन्होंने भगवान का आस्वादन अथवा अनुभव किया है, उन्हें फिर युक्ति की सहायता से उस अनुभूति को प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वे तो इस सम्बन्ध में संशयहीन हो जाते है। किन्तु जिनमें सन्देह है, जो प्रतिष्ठित नहीं हैं, उनके लिए युक्ति की सार्थकता है। वस्तुतः पथिकों के लिए युक्ति की उपयोगिता है, परन्तु जो लक्ष्य तक पहुँच गये हैं, वे चाहे ज्ञानी हों या भक्त— उन्हें फिर युक्ति की आवश्यकता नहीं होती।

उत्तरी भारत के एक ज्ञानी संन्यासी के बारे में मैंने सुना है कि, शास्त्रचर्चा के समय जब वे, **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** कहते तो विभोर होकर कहते थे। 'यह सब भरा हुआ' कहते समय उनके पूरे मुखमण्डल पर मानों एक ज्योति फैल जाती थी। ऐसी होती है अनुभव की शक्ति! किसी को प्रत्यक्ष अनुभव होने पर ही वह इस प्रकार कह सकेगा। भक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात हैं; तोतापुरी जी को भक्ति का अनुभव नहीं हुआ था, इसलिए उन्होंने कहा, "क्यों रोटी ठोकते हो?" ठाकुर यह सोचकर हँसते हैं कि तोतापुरी को इस भक्ति के विषय में अनुभव नहीं है, इसीलिए वे इसे समझ नहीं पा रहे हैं।

ठाकुर ज्ञान में प्रतिष्ठित हो चुके हैं और उन्होंने भक्ति के सार का भी आस्वादन किया है। दोनों ही उनके समक्ष सुस्पष्ट हैं, इसीलिए वे इतने बड़े ज्ञानी तोतापुरी की अपूर्णता देखकर हँस रहे हैं। हमें उस गिरगिट की बात याद रखनी होगी। भगवान के भी अनेक रूप हैं। जो उस वृक्ष के नीचे रहता है, वही जानता है कि यह भी वही है, वह भी वही है और भी न जाने कितना कुछ है! ठाकुर कहते हैं—वे साकार भी हैं, निराकार भी, और उसके परे भी हैं। यह सब

वे क्यों कहते हैं? साकार, निराकार आदि सब हम लोगों के युक्ति विचार में शब्दों का प्रयोग मात्र है। भगवान के सम्बन्ध में हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, उन्हें हम बुद्धि के द्वारा समझकर करते हैं। हमारी बुद्धि भगवान के पूर्ण स्वरूप को नहीं समझा सकती। ठाकुर की भाषा में कहें तो जैसे एक छोटा बालक घर में ताई-चाची के झगड़े में उन्हें 'भगवान की कसम' कहते सुन लेता है, इसलिए वह भी कहता है, 'भगवान की कसम'। परन्तु भगवान क्या हैं वह नहीं जानता, कोई अनुभव नहीं है उसके पास, उसके लिए तो भगवान एक शब्द मात्र है।

यदि वे साकार हैं तो निराकार, और निराकार हैं तो साकार कैसे होंगे? यह तो दो परस्पर-विरोधी बातें हैं। परन्तु एक स्थान पर यह विरोध समाप्त हो सकता है और वह साधारण मनुष्य की विचारशक्ति से परे है। हमारी बुद्धि जहाँ तक जाती है, वहीं तक उसे ले जाया जा सकता है और उसकी भी बिल्कुल ही सार्थकता न हो ऐसी बात नहीं। ठाकुर कहते हैं कि जो भगवान के स्वरूप अथवा तत्त्व को नहीं भी जानता हो, परन्तु यदि उसमें भक्ति हो तो विचार-बुद्धि के बिना भी भक्ति की सहायता से वह तत्त्व का अनुभव कर सकता है।

गीतापाठ सुनकर एक व्यक्ति को आँसू बहाकर रोते हुए देख श्री चैतन्य महाप्रभु ने पूछा था, "तुम क्यों रो रहे हो?" वह बोला, "मैं कुछ समझ तो नहीं पाता, केवल देखता हूँ कि भगवान रथ पर बैठे अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं, इसीलिए रो रहा हूँ।" उसकी भक्ति के द्वारा ही भगवान का साक्षात्कार हो रहा है। इधर पण्डितजी अनेक युक्ति-तर्क एव विचार की सहायता से गीता की अनेक प्रकार से

व्याख्या करते हैं, परन्तु सम्भव है उन्हें कुछ भी उपलब्धि न हुई हो। विश्वास प्रगाढ़ होने पर वह साधक को तत्त्व तक पहुँचा देता है। ठाकुर कहते हैं, "कोई पूर्व की ओर जाना चाहता हो, परन्तु पश्चिम की ओर अग्रसर हो रहा हो, तो कोई न कोई उसे रास्ता बता ही देता है, 'इस रास्ते से नहीं, उस रास्ते से जाओ।' तब वह रास्ता बदलकर उस रास्ते से चला गया। परन्तु आग्रह होना चाहिए। मनुष्य यदि तत्त्वान्वेषी हो तो भूल-भ्रान्ति होने पर भी वह धीरे-धीरे गन्तव्य तक पहुँच ही जाता है।" और ऐसा भी नहीं है कि विचार करने से भूल नहीं होती। विचार होता है—क्या नहीं है, न कि क्या है—इस रूप में । विचार इस प्रकार करते हैं मानो वह शुद्ध न हो, तत्त्व को जानने के लिए न हो। विचार तत्त्व तक पहुँचने में सहायता करता है, परन्तु उस पर पूरी तौर से निर्भर नहीं किया जा सकता।

ठाकुर कहते हैं कि एक व्यक्ति गलत रास्ते पर चला गया था, बोध होने पर वह सही रास्ते पर गया। इस पर डाक्टर सरकार कहते हैं, "वह भूल तो गया था।" उत्तर में श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "हाँ ऐसा जरूर हो जाता है, पर अन्त में वह पाता भी है।" पहले ही वे कह चुके हैं कि ज्ञानी भी रास्ता भूल जाता है। अतः यह प्रश्न ही अनुचित है। तथापि एक बात ठाकुर ने कही है, "भक्त होना पर बुद्धू क्यों होना?" भक्त होते ही विचार-बुद्धि को विसर्जित कर देना होगा, ऐसी कोई बात नहीं।

आत्म-विचार

आँखें मूँदकर या माला फेरकर हम सोचते हैं कि भगवान की ओर जा रहे हैं। परन्तु जा रहे हैं या नहीं क्या

इसे स्पष्ट रूप से देखते हैं? ठाकुर कहते हैं, "धान कूटते समय बीच-बीच में उठाकर देखते हैं कि कूटना ठीक हो रहा या नहीं?" साधना-पथ में भी आत्मविश्लेषण की आवश्यकता है। बीच-बीच में देखना होगा कि मैं ठीक कर रहा हूँ या नहीं। यदि केवल यही कहा जाय, 'किये जाओ,किये जाओ,' तो यह युक्तिसंगत नहीं। भगवान की प्राप्ति के विषय में कुछ धारणा रहनी चाहिए। उसी के अनुसार बीच-बीच में विचार करके देखना होगा कि आगे बढ़ रहा हूँ या नहीं? आगे बढ़ने पर लक्ष्य क्रमशः निकटतर होता जाएगा। गोपियाँ श्रीकृष्ण की खोज कर रही हैं। एक कहती है—निश्चय ही वे इस रास्ते से गये हैं, क्योंकि मैं उनके देह की सुगन्ध पा रही हूँ। यही जो देह की सुगन्ध पाना—कृष्णगन्ध पाना —लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है। स्वयं का विश्लेषण किये बिना कोई यह समझ नहीं सकता कि वह ठीक-ठीक आगे बढ़ रहा है या नहीं। विचार की सार्थकता यहीं है। विवेक-वैराग्य रहने पर विचार वस्तु-निर्णय में समर्थ होगा, अन्यथा उस विचार का कोई मूल्य नहीं। ठाकुर कहते हैं, "बड़े-बड़े पण्डितों में यदि देखता हूँ कि विवेक-वैराग्य नहीं है, तो वे घास-पतवार जैसे जान पड़ते हैं।"

ईश्वर वैचित्र्यमय हैं

ठाकुर डाक्टर सरकार से कहते हैं, "परन्तु इसकी धारणा करना बड़ा कठिन हैं। जो निराकार हैं, वे फिर साकार कैसे हो सकते हैं? यह सन्देह मन में उठता है। और यदि वे साकार हों तो ये अनेक रूप क्यों हैं?" डा. सरकार बीच-बीच में टिप्पणी करते हैं। उनमें से जो सारगर्भित

होता है, ठाकुर उस पर कुछ चर्चा करते हैं, बाकी छोड़ते जा रहे हैं। उपसंहार के रूप में ठाकुर कहते हैं, "ईश्वर को प्राप्त किए बिना ये सब बातें समझ में नहीं आतीं। साधक को वे अनेक भावों और अनेक रूपों में दर्शन देते हैं। ठाकुर ने नाद में भरे रंग की बड़ी सुन्दर उपमा दी है। एक व्यक्ति के पास एक बर्तन भर रंग था। जिसे जो भी रंग चाहिए, वह उस एक ही नाद में डुबो कर उसका कपड़ा उस रंग में रंग देता था। अर्थात् भगवान अपने भक्तों पर अनेक रूपों में कृपा करते हैं, जो जिस रूप में चाहे। कोई अरूप चाहे तो वह भी उसे देते हैं। उनका यह वैचित्र्य बुद्धि के द्वारा नहीं समझा जा सकता, यह वैचित्र्य अनुभवगम्य है। जिसने उन्हें एक ही रूप में नहीं बल्कि विविध रूपों में अनुभव किया है, वे ही यह बात कह सकते हैं। ठाकुर ने गिरगिट का दृष्टान्त देकर समझाया कि भगवान के सर्व रूपों का अनुभव न होने पर वह अपूर्ण रह जाता है। तोतापुरी के बारे में वे कहते—"उन्हें ब्रह्मानुभूति हुई है, निर्विकल्प समाधि तक हुई है, परन्तु भक्तों के आस्वाद्य भगवान के विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में वे बिल्कुल अज्ञ थे।" ठाकुर के सान्निध्य में आने पर उनकी यह अपूर्णता दूर हुई। यह अपूर्णता भक्त-ज्ञानी निरपेक्ष और स्वाभाविक है। भक्त कहते हैं कि ज्ञानी की दृष्टि से भगवान में वैचित्र्य नहीं है, क्योंकि वे दूर से इन्हें देखते हैं। चैतन्य-चरितामृत में है—दूर से सूर्य एक गोला जैसा दिखाई देता है, परन्तु सूर्यलोक के वासी उसमें विविध प्रकार की वस्तुएँ देखते हैं। ज्ञानी भी कहते हैं कि ज्ञानी की दृष्टि अपूर्ण है, मनुष्य की बुद्धि की अपूर्णता के कारण ही भूल होती है।

ठाकुर कहते हैं कि तुम यदि किसी एक ही रूप का

आस्वादन करके सन्तुष्ट हो, तो तुम्हारे लिए वही यथेष्ट है। परन्तु दूसरे के सिद्धान्त पर टीका-टिप्पणी करने के पहले उसे परख लेने की आवश्यकता है। वे बारम्बार कहते हैं—अपने मत के प्रति निष्ठावान रहो और दूसरों के मत के प्रति श्रद्धावान बनो, नहीं तो फिर अपनी अज्ञता स्वीकार कर लो। व्यर्थ ही दूसरों की आलोचना करना उचित है नहीं है।

मानस रोग (१७/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेख उनके सतरहवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपवद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय रायपुर में अध्यापक हैं।-स.)

गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में मन के रोगों की तुलना आयुर्वेद की पद्धति से शरीर के रोगों के साथ करते हुए उनका जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसी संदर्भ में पिछले प्रवचन में ममता रूपी दद्रु की चर्चा प्रारंभ की गई थी। समस्त मानस रोगों के प्रसंग में यह बड़ा विचित्र सा प्रतीत होता है कि अन्य जिन रोगों के नाम लिए गये हैं, वे सब मनुष्य के मन में आतंक और भय की सृष्टि करते हैं। जैसे कि सन्निपात का नाम सुनकर ही व्यक्ति आतंकित हो जाता है। ज्वर का नाम सुनकर व्यक्ति संत्रस्त हो जाता है। जब राजयक्ष्मा का नाम लिया जाता है तो उसके द्वारा भी एक भीषण रोग की कल्पना होती है। कुटिलता और दुष्टता को वे कोढ़ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। तो ये सारे रोग मनुष्य के मन में भयानक आतंक की सृष्टि करते हैं। परन्तु ममता की तुलना जिस रोग से की गई है, वह ऐसा नहीं है जो व्यक्ति के मन में कोई बहुत बड़े आतंक या भय की सृष्टि करे। व्यक्ति बहुधा उसे साधारण रोग ही समझता है और वह है दद्रु या दाद। गोस्वामीजी ममता की तुलना दद्रु से करते हैं। इसमें एक सूक्ष्म संकेत है। व्यक्ति के मन में प्रायः ममता विद्यमान रहती है पर उसे नहीं लगता कि यह कोई बुरी वस्तु है। बल्कि इसे तो सारे व्यवहार का आधार

ही मानता है। परन्तु इसका जो दूसरा पक्ष है, वह व्यक्ति के जीवन में समस्याएँ उत्पन्न करता है और वह बड़ा कठिन पक्ष है।

दाद एक विचित्र रोग है। उसकी एक विशेष प्रकृति है। जिन लोगों को यह रोग होता है, उन्हें लगता है कि दवा के द्वारा तत्काल आराम मिल गया पर उन्हें यह भी अनुभव होगा कि यह बार-बार लौट आता है। कुछ दिन बाद फिर प्रगट हो जाता है। ममता की प्रकृति भी ठीक ऐसी ही है और यह सर्वाधिक चिरस्थायी रोग है। पर समाज में इसके प्रति कोई घृणा नहीं है, उतनी निन्दा की वृत्ति नहीं है जितनी अन्य दुगुणों के प्रति है। ममता जन-जीवन में बड़ी व्यापक रूप में बैठी हुई है। इसे दूर कर पाना सरल नहीं है। भले ही वह साधारण रोग प्रतीत होती हो परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। इसीलिए इस प्रसंग में गोस्वामीजी ने ममता की तुलना दाद से की है। लेकिन इसकी विचित्रता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने के लिए उन्होंने इसे अन्य प्रसंगों में कई रूप में प्रस्तुत किया है। एक प्रसंग में वे कहते हैं कि ममता अँधेरी रात है, और दूसरे प्रसग में कहते हैं कि यह बन्धन है। फिर तीसरे प्रसग में वे कहते हैं कि ममता मल है। ये बड़े कठोर निन्दा के शब्द हैं। परन्तु गोस्वामीजी ऐसा भी मानते हैं कि ममता का अन्त में विनाश होता है। उनका एक प्रसिद्ध पद है, जिसे भक्त बहुधा गाते हैं। गोस्वामीजी व्याकुल होकर बड़े ही निराशा भरे स्वर में गाते हैं—

"ममता तू न गई मेरे मन ते।"

—सब तो चला गया पर अरी ममता, तूने अभी तक मेरे मन का परित्याग नहीं किया। तू अभी भी बनी हुई है। और मानस में वे कहते हैं—

ममता तरुन तमी अँधियारी।
राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं।
जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥५।४७।३-४

—"ममता पूर्ण अँधेरी रात है, जो राग-द्वेष रूपी उलूक को सुख देने वाली है। वह तभी तक जीव के मन में बसती है जब तक प्रभु के प्रतापरूपी सूर्य का उदय नहीं होता।"

यहाँ पर ममता और उसके निराकरण की पद्धति की ओर संकेत किया गया है। और ममता को जब बन्धन कहा, तब भी उस बन्धन के सदुपयोग की ओर संकेत करते हुए बड़ी मनोवैज्ञानिक बात कही गई। ममता की तुलना की गई धागे से। व्यक्ति के जीवन में यह एक विचित्र विडम्बना है कि जैसे कि हम किसी व्यक्ति को रस्सी से बाँध दें, तो उस व्यक्ति के लिए छूटना कठिन है। लेकिन कोई पतला सा धागा लेकर किसी को बाँधने की चेष्टा करें, तो वह अपनी ओर से भले ही संतोष करे कि मैं इसे बाँध रहा हूँ, परन्तु धागे के बँधने पर क्या कभी कोई व्यक्ति रुका है? सुन्दरकाण्ड में विभीषणजी के प्रसंग में यह बात आती है कि हम लोगों की ममता धागों की तरह बिखरी हुई है; और उसके एक एक धागे में हम एक-एक व्यक्ति को बाँधने की चेष्टा कर रहे हैं। जिससे भी हम ममता करते हैं, हम चाहते हैं कि वह हमारे बन्धन में पड़ा रहे। लेकिन परिणाम क्या होता है? स्पष्ट दिखाई देता है कि पुत्र को पिता बन्धन में बाँधना चाहता है। पति को पत्नी बन्धन में बाँधना चाहती है। पति-पत्नी दोनों एक दूसरे को बन्धन में बाँधना चाहते हैं। पर ममता इतनी बिखरी हुई है कि व्यक्ति किसी को भी पूरी तरह से अपने वश में नहीं कर पाता। और तब उसे

बड़ी निराशा होती है। जिससे उसको ममता है उससे उसे हमेशा अपेक्षा रहती है कि वह उसके इच्छानुसार चले। और जब वह उसके इच्छानुसार नहीं चलता तो उसे बड़ा आघात लगता है, दुःख होता है। इसीलिए सुन्दर काण्ड में कहा गया कि ममता यदि रात्रि है, तो इस अँधेरी रात्रि को दूर करने के लिए भगवान राम के प्रताप का रवि जब हृदय में उदित होता है और तब यह ममतारूपी अंधकार दूर होता है।

ममता के इन दोनों रूपों का संकेत विभीषण के ही सन्दर्भ में किया गया है। विभीषण लंका से आये हुए हैं और यहाँ तात्पर्य यह है कि अब तक लंका में उन्हें बाँध रखने वाला यदि कोई बन्धन उनके जीवन में बचा था तो, वह केवल ममता का बन्धन ही था। उनके जीवन में अहंता नहीं है। तीव्र अहं का अस्तित्व विभीषण के जीवन में कभी नहीं है। न कहीं पढ़ने में आता न सुनने में। परन्तु अहंता से मुक्त होने पर भी ममता के संस्कार उनमें विद्यमान हैं। और उस ममता के संस्कार से जब तक वे मुक्त नहीं हुए तब तक भगवान की शरण में नहीं आये। और ममता से मुक्त होकर जैसे ही वे भगवान राम की शरण में आते हैं तो प्रभु उन्हें देखते ही पूछ बैठते हैं —

> कहु लंकेस सहित परिवारा।
> कुसल कुठाहर बास तुम्हारा।।
> खल मंडली बसहु दिनु राती।
> सखा धरम निबहइ केहि भाँति।। ५।४६।४-५

—"हे लकेश, परिवार सहित अपनी कुशलता कहो। तुम्हारा निवास बुरी जगह पर है। दिन-रात दुष्टों के बीच में रहते हो। मित्र, तुम्हारा धर्म कैसे निभता है?"

विभीषण ने बड़ा सार्थक उत्तर दिया। उन्होंने कहा—"महाराज, यह प्रश्न भूतकाल के संदर्भ में है या वर्तमान के? यदि भूतकाल के संदर्भ में है तो फिर लंका में रहकर कुशलता की कल्पना करना ही व्यर्थ है। वहाँ भला कुशलता कैसी?" कबीरदासजी से किसी ने पूछ दिया—"कहिए, कुशल तो है?" तो उन्होंने फटकारते हुए कहा–"यह व्यर्थ का प्रश्न और व्यर्थ का उत्तर है, बुद्धि की विडम्बना मात्र है।" दो व्यक्ति एक दूसरे से मिलते हैं और एक पूछता है— "कहिए, कुशल से तो हैं?" सामने वाला व्यक्ति भी कह देता है— "आपकी कृपा से या भगवान की कृपा से कुशल हूँ।" कबीरदासजी कहते हैं कि यह तो निरर्थक उत्तर है। इस संसार में भी भला कोई कुशल से रह सकता है? अरे भाई—

> कुसल कुसल ही के करत
> जग में बचा न कोय।
> माया मुइ न मन मुवा
> कुसल कहाँ ते होय।

—जब तक माया और मन दोनों विद्यमान हैं तब तक कुशलता कहाँ? विभीषण ने भी यही कहा कि महाराज, जहाँ तक भूतकाल का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो मेरे जीवन में कुशलता का प्रश्न ही नहीं है। लंका के दुर्गुण-दुर्विचारों और काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि दुर्वित्तियों में भी व्यक्ति कुशल से होगा, ऐसी क्या कल्पना भी की जा सकती है? ऐसा तो कभी संभव ही नहीं है। उन्होंने कहा—लेकिन महाराज, अब वह स्थिति नहीं है। अब मैं कुशल हूँ। यह अन्तर कैसे आ गया?

अब मैं कुसल मिटे भय भारे।
देखि राम पद कमल तुम्हारे॥५/४७/५

—"हे प्रभो, आपके चरण कमल का दर्शन कर अब मैं कुशल हूँ, मेरे विषम भय दूर हो गये।" जब विभीषण का भगवान श्रीराम से साक्षात्कार हुआ तब ममता के संदर्भ में उन्होंने दो बातें कहीं।

प्रभो, अभी तक तो मैं लंका में था और ममता की अँधेरी रात ही मेरे अन्तःकरण में विद्यमान थी। ममता की उस अँधेरी रात में मैं समझता तो यही था कि मैं देख रहा हूँ, पर वस्तुतः मैं वास्तविकता को देख नहीं पा रहा था। इसका अभिप्राय क्या है? लंका में रावण के द्वारा जो कार्य हो रहे थे, वे तो सब मेरी आँखों के सामने ही हो रहे थे या यह कहना चाहिए कि रावण के सारे कार्य मुझे दिखाई दे रहे थे। पर रावण के कार्य अगर मुझे सचमुच सही अर्थों में दिखाई दे रहे होते तो क्या इतने दिनों तक मैं लका में रह पाता? इसका अर्थ तो यही है कि मैं लंका में रहते हुए उस ममता की अँधेरी रात में राग की दृष्टि से देख रहा था। वह राग की दृष्टि थी। व्यक्ति जब राग की दृष्टि से देखता है तब उसे सत्य का साक्षात्कार नहीं होता, बल्कि इसकी प्रकृति उल्टी है। उलूक रात्रि में तो देखता है पर दिन में उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता। जिस व्यक्ति को राग और द्वेष की दृष्टि से मोह की अँधेरी रात में ही दिखाई दे और ईश्वर का प्रकाश न दिखाई दे, तो इससे बढ़कर उसका दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? पर विभीषण जी ने कहा कि उस ममता की अँधेरी रात्रि में अब आपके प्रताप का रवि मेरे अन्तःकरण में उदित हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि अब मेरे अन्तःकरण में ममता की अँधेरी रात

मिट गई है और मैं आपके चरणों में आ सका हूँ। अब मैं मोह और ममता की अँधेरी रात में निद्रामग्न नहीं हूँ।

अब भगवान राम ममता के उस पक्ष की ओर संकेत करते हैं, जहाँ पर ममता बन्धन का रूप लिये हुए हैं। विभीषण ने तो ममता को अँधेरी रात के रूप में प्रस्तुत किया पर भगवान राम ममता की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विभीषण, मेरी दृष्टि में ममता पतले धागों की तरह है। और ये पतले धागे बिखरे हुए हैं। वास्तव में ममता को इतनी हेय दृष्टि से देखने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति इस ममता का सदुपयोग कर सकता है। भगवान राम ने बड़ी मनोवैज्ञानिक बात कही। यदि व्यक्ति से यह कह दिया जाय कि तुम ममताशून्य हो जाओ, तब तो उसका अन्त:करण नीरस हो जाएगा। क्योंकि व्यक्ति में रस लेने की जो प्रकृति है, वह तो ममता से जुड़ी हुई है। ममता की इसी प्रवृत्ति को—इन सब बिखरे हुए धागों को अगर एक साथ एकत्र कर दिया जाय तो वे ही धागे रस्सी के रूप में परिणत हो जाएँगे। और तब उस रस्सी से किसे बाँधेंगे? भगवान राम बड़े उदार हैं। यदि वे यह कहते कि फिर उस रस्सी से चाहे जिसको बाँधो तो और बात थी, पर उन्होंने दूसरों को बाँधने की बात नहीं कही। वे कहते हैं कि उस रस्सी से तुम चाहो तो मुझे भी बाँध सकते हो। अपने बँधने का उपाय भगवान स्वयं बता दे रहे हैं।

जननि जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।
सबकै ममता ताग बटोरी
मम पद मनहि बाँध बरि डोरी।५।४८।४-५

—"माता-पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र, परिवार, इन सबके प्रति ममता के धागों को मिलाने से जो रस्सी बने, उसे मेरे चरणों में बाँध दो।" इसका परिणाम क्या होगा? भगवान कहते हैं कि मैं तुम्हारे ममता के बन्धन में बँध जाऊँगा। इसका अभिप्राय यह है कि मेरे पिता, मेरा पुत्र, मेरा भाई, मेरा परिवार, मेरी वस्तुएँ— ये सब ममता के धागे बिखरे हुए हैं। अब सब जगह से ममता हट गई तो बचा क्या? भक्त कवि दादू का एक बड़ा मधुर वाक्य है। उन्होंने भगवान से कहा,—महाराज, 'तन भी तेरा' यह शरीर भी मेरा नहीं है। 'मन भी तेरा, तेरा पिण्ड परान'— तन, मन, प्राण, यह सब आपका ही है। तो भगवान ने कहा—यह तो तुम्हारी बड़ी उदारता है। अपने लिए कुछ तो रख लिया होता। तो दादूजी ने कहा— महाराज, मैं उदार बिल्कुल नहीं हूँ। अपने लिए भी एक बचा लिया है। उस एक को छोड़कर बाकी सब आपका है। दादू कहते हैं—

तन भी तेरा, मन भी तेरा, तेरा पिण्ड परान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यह दादू का ग्यान।।

—जो कुछ भी मेरा था वह सब अब आपका है, परन्तु आप मेरे हैं। बस यही ममत्व की सार्थकता है। यही है ईश्वर को अपनी ममता की डोर से बाँध लेना। अन्य जिन लोगों को हम अपनी ममता की डोर से बाँधना चाहते हैं, वे भागने की चेष्टा करते हैं, लेकिन ईश्वर तो इतने उदार हैं कि वे स्वयं बँध जाने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। कहते हैं— उपाय मैं स्वयं बता दे रहा हूँ। तुम मुझे बाँध क्यों नहीं लेते?

इस प्रकार रामायण के विविध प्रसंगों में ममता के विविध पक्षों की ओर इंगित किया गया है। गोस्वामीजी ने

ज्ञानदीप के प्रसंग में ममता को मल बताते हुए इसकी बड़ी सूक्ष्म व्याख्या की है। ज्ञानदीप-प्रसंग बुद्धि को शुद्ध करने की साधना का एक काव्यमय रूपक है। मनुष्य की बुद्धि अशुद्ध है, और अशुद्ध बुद्धि के द्वारा वह सही ढंग से सोच भी नहीं पाता। हमारे पास समझने का जो साधन है वह तो यह बुद्धि ही है। और वह है अशुद्ध। तो क्या करें? उत्तर में कहा गया है कि पहले हम बुद्धि को शुद्ध करें। बुद्धि के शुद्ध होने पर जब हम सत्य को समझने की चेष्टा करेंगे, तभी सत्य को समझ पाएँगे। इसीलिए बुद्धि को शुद्ध करने की प्रक्रिया बड़ी सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत की गई। कहा गया—

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। ७/११७/०९

इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति की बुद्धि में सबसे पहले श्रद्धा का उदय होना चाहिए। अगर बुद्धि श्रद्धाहीन होगी, तो व्यक्ति को अन्तःकरण में ज्ञान की उपलब्धि नहीं होगी। श्रद्धावान व्यक्ति ज्ञान लाभ करता है–

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्। (गीता ४/३९)

—व्यक्ति जब बुद्धिमान होता है तो उसमें अहंकार की सम्भावना होती है। वह यह मान बैठता है कि मुझसे बढ़कर बुद्धिमान कोई नहीं है। यह बुद्धि की एक बड़ी विचित्र प्रवृत्ति है। और श्रद्धा तो तभी होती है जब सामने वाले व्यक्ति में अपने से अधिक बुद्धिमत्ता देखते हैं। तो सबसे पहली आवश्यकता यह है कि हमारी बुद्धि में श्रद्धावृत्ति आवे। हमारा अहंकार नष्ट हो जाए और हम सन्तों, महापुरुषों, गुरुजनों के प्रति, उनकी बुद्धि के प्रति श्रद्धावान बनें। अतः बुद्धि को शुद्ध करने के लिए पहला कार्य यह है कि हम श्रद्धावान बनें।

ज्ञानदीप-प्रसंग में गोस्वामीजी श्रद्धा की तुलना गाय

से करते हुए क्रम से वर्णन करते हैं कि जैसे एक बहुत सुन्दर और अच्छी गाय हो, पर उसे चारा न खिलाया जाय तो वह दूध कहाँ से देगी? इसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में श्रद्धा तो हो, पर सत्कर्म न हो तो उस श्रद्धा से कोई लाभ नहीं होता। कई लोग बड़े श्रद्धालु तो दिखाई देते हैं लेकिन वे चाहते हैं कि महाराज ही सब कुछ कर देंगे, हमें कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी श्रद्धा उन्हें निष्क्रिय बना देती है। श्रद्धा के साथ अगर निष्क्रियता आ गई तो इसका अभिप्राय यह है कि श्रद्धा की गाय तो आ गई, पर सत्कर्म का चारा नहीं मिला। इसीलिए श्रद्धा के साथ जब सत्कर्म जुड़ेगा—

जप तप व्रत जम नियम अपारा।
जो श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।७/११७/१०

—असंख्य प्रकार के जप, तप, व्रत, यम, नियमादि शुभ धर्म और आचारों की बात श्रुतियों ने कही है। श्रद्धारूपी गाय इन सत्कर्मों का चारा खाकर ही दूध देने के योग्य बनती है। आगे चलकर लिखा गया कि गाय दूध तो देती है पर बछड़े को देखकर। जब तक बछड़ा सामने नहीं होगा, जब तक उसका वात्सल्य नहीं उमड़ेगा और तब तक गाय के स्तन में दूध नहीं आयेगा। इसी प्रकार श्रद्धा और सत्कर्म के साथ साथ "भाव-वच्छ', भावना रूपी बछड़ा भी हो। अभिप्राय यह है कि श्रद्धा हो, सत्कर्म हो और सत्कर्म के साथ ही भावना भी जुड़ी हो। हमारा कर्म हमें बोझ न मालूम हो। कर्म में रसानुभूति हो, उसमें आनन्द की अनुभूति हो। और इसके साथ ही गोस्वामीजी यह भी कहते हैं कि इस बुद्धि की शुद्धता के साथ मन को भी जोड़ देना है। मन को जोड़ने का अभिप्राय यह है कि दूध दूहने का कार्य तो वह अहीर ही कर सकता है, जो दूध दूहने की कला में निपुण हो। यहाँ पर

गोस्वामीजी एक बड़ी सार्थक बात कहते हैं कि अहीर तो सबके पास है। उन्होंने कहा कि मन ही वह अहीर है। तो सुनने वाले ने कहा कि कोई बात नहीं है, गाय, चारा, बछड़ा आदि तो लाना पड़ेगा, पर आपने जो अहीर बताया, वह तो हमारे पास ही है। इस पर गोस्वामीजी ने कहा कि इस अहीर से काम नहीं चलेगा। क्यों? कई बार ऐसा होता है कि लोग ऐसे व्यक्ति को दूहने के लिए नियुक्त करते हैं, जो दस घरों में दूहने के लिए जाते हैं। उसको जब जहाँ जाने के लिए समय मिलता है तब वहाँ वह दूहने के लिए जाता है। और जिस दिन वह थक जाता है, उस दिन वह किसी बहाने दूहने भी नहीं जाता। इसलिए दूहने वाला अगर दस घरों में जाने वाला हो तो वह गाय को ठीक से दूह नहीं प।एगा। समय पर नहीं दूह पाएगा। इसलिए दूहने वाला ऐसा होना चाहिए जो एक ही घर में दूहे। हम लोगों का मन अहीर तो है, पर दस घरों में दूहता रहता है। इन दस इन्द्रियों को दूहने का इसका स्वभाव बन गया है। कभी आँख के पास, कभी कान के पास, कभी नाक के पास घूमता रहता है। यह जो मन की प्रवृत्ति है, उसके स्थान कर इसको ऐसा बनाना पड़ेगा कि यह चारों ओर भटकने के स्थान पर एक ही स्थान पर रहे और साथ ही—

निरमल मन अहीर निज दासा ।७/११७/१२

—निर्मल हो। दुहने वाले का हाथ अगर गन्दा हो तो दूध पवित्र होने हुए भी गन्दा हो जाएगा। इसी प्रकार से अगर मन में मल विद्यमान रहा तो हम जिस धर्म का दूध प्राप्त करेंगे वह भी मलिन हो जाएगा। इसीलिए मन निर्मल हो और निर्मल होने के साथ 'निज दास' हो। निज दास का अभिप्राय यह है कि हमारा मन अनेक दिशाओं में भटकने

वाला न हो। श्रद्धा हो, सत्कर्म हो, भावना हो, मन में पवित्रता और एकाग्रता हो, तब मनुष्य के अंतःकरण में अहिंसा की वृत्ति प्रतिष्ठित होगी। यही क्रम है। श्रद्धा की गाय, सत्कर्म का चारा, भाव का बछड़ा, निर्मल और एकाग्र मन का अहीर— इतना होने पर तब परम धर्म रूपी अहिंसा वृत्ति का दूध मिला, अहिंसा का उदय हुआ। पर अभी तो लंबी यात्रा बाकी है। इस अहिंसा के बदले में अगर हम यह चाहने लगें कि लोग हमारा सम्मान करें; हमें अहिंसा वृत्ति प्राप्त हो चुकी है, अतः लोग हमें महान समझें, तो यह अहिंसा का दूध पतला ही रह जाएगा और पतले दूध को जब हम आग पर चढ़ा कर औटाते हैं तो वह गाढ़ा हो जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि निष्कामता की आग पर इसको जरा गाढ़ा कीजिए। अभिप्राय यह है कि अहिंसा के साथ व्यक्ति के अन्तःकरण में समग्र निष्कामता की वृत्ति का भी उदय हो। पर निष्कामता के साथ एक समस्या यह भी जुड़ी हुई है। निष्कामता की अग्नि से दूध में गाढ़ापन तो आ जाता है, पर उसके साथ गर्मी भी आ जाती है। निष्काम लोगों में कभी कभी गर्मी बढ़ जाती है। स्वार्थी व्यक्ति विनम्र होता है, क्योंकि वह जो कुछ करता है, उसके बदले में कुछ लेता है, पर बदले में जिसे कुछ भी नहीं चाहिए, वह थोड़ा उग्र हो जाता है। निष्कामता में यह वृत्ति अगर बनी रह गई तो काम नहीं बनेगा। इस वृत्ति को मिटाने के लिए उसे हवा से जरा ठंडा कीजिए। और वह हवा क्या है?

तोष मरुत तव छमाँ जुड़ावै। ७/११७/१४

—संतोष की वायु से क्षमा की शीतलता ले आवे। और तब उस दूध को दही में परिणत करने के लिए क्या करना होगा? दूध को दही में परिणत करने के लिए उसमें थोड़ा

सा दही जिसे जामन कहते हैं, डालना पड़ता है। अतः आपको कहीं न कहीं से थोड़ा सा दही खोजना पड़ेगा। तब वह दूध-दही में परिणत होगा। इसका अभिप्राय यह है कि यह जो धर्म-बुद्धि प्राप्त हुई, उसे मथने योग्य बनाने के लिए स्थिर करना होगा, दही के समान जमाना होगा। और उसे जमाने के लिए जामन कहाँ से मिलेगा? वह हमें मिलेगा किसी संत से, किसी महापुरुष से। क्योंकि जामन हमें उसी से मिलेगा जिसने अपने घर में दही जमा रखी हो। अतः वह जामन हमें संत-महापुरुष से ही मिलेगी। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जो चिन्तन करेगा, वह पूर्व के विचारों से जुड़ा हुआ होगा। यह गलत होगा यदि वह कहे कि हम बिना किसी आधार के स्वतंत्र चिन्तन कर लेंगे, स्वतंत्र रूप से हम सब कुछ जान लेंगे। पूर्व के महापुरुषों ने जैसा अनुभव किया है, वह जैसे साधक के अन्तःकरण में धृति के रूप में प्रतिस्थापित होता है, उसे गोस्वामीजी इस प्रकार कहते हैं—

धृति सम जावनु देइ जमावै॥७/११७/१४

और जब दही जम जाती है तब प्रारंभ होती है मन्थन की प्रक्रिया। यह मन्थन क्या है? विचार ही मन्थन है। यहाँ पर गोस्वामीजी सावधान कर देते हैं। कई लोग कहते हैं कि हम विचार करते हैं। ठीक है, पर आप विचार कहाँ कर रहे हैं? विचार तो रावण भी बहुत करता था—

रावन हृदयँ विचारा....।६।८८

पर यह विचार-मन्थन कहाँ हो रहा है। सतीजी भगवान राम की परीक्षा लेने चलीं। शंकरजी ने उन्हें सावधान करते हुए कहा— देखिए, आप परीक्षा लेने जा तो रही हैं, पर एक बात का ध्यान रखिएगा। क्या?

जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।
करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी॥१/५२/३

"विवेक-विचारपूर्वक तुम वही करना, जिसके द्वारा तुम्हारा मोह भ्रम दूर हो।"

और सतीजी ने शंकरजी के इस निर्देश का पालन किया भी। क्योंकि अगले वाक्य में यही बताया गया है—

पुनि पुनि हृदयँ बिचारु करि...।१/५२

—सतीजी ने विचार का आश्रय लिया। शंकरजी का उपदेश व्यर्थ क्यों गया? उसका कारण ज्ञानदीप के प्रसंग में बहुत सुन्दर ढंग से बताया गया कि विचार तो मथानी है। मथानी चलाइए यह तो बिलकुल ठीक है, लेकिन यह तो देख लीजिए कि आप मथानी चला कहाँ रहे हैं। आप पानी में मथानी चलाते रहिए, दिन-रात परिश्रम करते रहिए तो भी उस पानी से क्या मक्खन निकलेगा? नहीं। इसीलिए अन्तःकरण में यदि केवल पानी भरा हो तो फिर विचार-मंथन से क्या निकलेगा? और अगर वह पानी गंदा हो तो मन्थन से उभर कर गंदगी ही तो ऊपर आएगी। विचार करने का अधिकार कब प्राप्त होता है?

मुदिता मथै बिचार मथानी।७/११७/१५

श्रद्धा, सत्कर्म, सद्भावना, चित्तशुद्धि, निष्कामता, अहिंसा, निवृत्ति आदि इन समस्त वृत्तियों को एकत्रित कर जब व्यक्ति बुद्धि से विचार करने बैठता है, तब वह सही विचार करता है। और जहाँ मंथन के लिए ये सब सामग्री नहीं है, वहाँ विचार-मंथन तो व्यर्थ का श्रममात्र है। उससे सार तो कुछ निकलने का नहीं। सतीजी ने विचार तो किया, पर वहाँ न श्रद्धा थी, न धर्मबुद्धि और न धृति— अतः उनके जीवन में विचार का परिणाम विपरीत निकला।

विचार तो कई लोग करते हैं। दावा भी करते हैं कि मैं बड़ा विचारक हूँ, बहुत विचार करता हूँ। पर यह कैसे पता चले कि वे वे विचार कहाँ करते हैं? जब उनके विचार का निष्कर्ष सामने आता है, तब पता चलता है कि उनका विचार-मन्थन विषयवारि को मथ रहा है या परमधर्म के दही को। जब विचार का निष्कर्ष भोगों का ही समर्थन करने लगे तब समझ में आ जाता है कि वह विषयवारि को ही मथता रहा होगा। विचार के द्वारा विषय का मन्थन होगा तो वहाँ भोग ही निकलेगा, लेकिन जिसके जीवन में इस ज्ञानदीप की प्रक्रिया से बुद्धि शुद्ध हो चुकी हो, वह जब विचार करेगा, तब क्या प्रकट होगा?

तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता।
बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।।६/११७/१६

—तब उसके जीवन में विमल वैराग्य का उदय होगा। हृदय में शान्ति, आनन्द और विश्राम की अनुभूति होगी। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि बस अब एक सीढ़ी और बाकी है। यह अन्तिम प्रक्रिया पूरा करके पूर्ण विश्राम कीजिए। इतनी लंबी प्रक्रिया के बाद अब और क्या बचा रह गया? गोस्वामीजी में सजगता की मानों पराकाष्ठा है। वे कहते हैं— विमल वैराग्य आ गया, मक्खन निकल आया, पर मक्खन में भी मठा का कुछ न कुछ अंश रहता ही है, जल भी कुछ न कुछ रहता ही है, थोड़ी सी खटास भी रहती है। उस अवस्था में उस मक्खन से अगर कोई दिया जलावे तो उसमें थोड़ा जल का अंश विद्यमान होने के कारण दीपक ठीक से नहीं जल पाएगा। इसी प्रकार इस विमल वैराग्य में भी किंचित अशुद्धता अवशिष्ट है। इस अशुद्धता के दूर होने पर शुद्ध ज्ञान का उदय होगा और इसी शुद्ध ज्ञान के द्वारा

व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार करेगा। यह अशुद्धता क्या है? गोस्वामीजी कहते हैं –

जोग-अगिन करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाई।।७/११७

—"तब योग रूपी अग्नि प्रकट करके उसमें समस्त शुभाशुभ कर्मरूपी ईंधन लगा दें और जब वैराग्य रूपी मक्खन का ममता रूपी मल जल जाय, तब उस ज्ञान रूपी घृत को बुद्धि से शीतल करें।" इतनी लम्बी साधना के बाद जब अंतःकरण में श्रद्धा से लेकर विमल वैराग्य तक जहाँ अहिंसा आदि सब कुछ आ गया तब भी उसमें मल को खोज लेने वाली यह जो सूक्ष्म दृष्टि है, यह साधक के जीवन में अपेक्षित और बड़े महत्व की है। विमल वैराग्य में भी मल का सन्धान, यह मल कोई वैसा मल नहीं है। शब्द है 'ममता', किसी ऐसे वैसे वस्तु से तो नहीं परन्तु अन्त में वैराग्य से भी तो ममता हो सकती है। यह अति सूक्ष्म मल जो सार वस्तु से भिन्न न होते हुए भी अन्ततः ज्ञानदीप की उपलब्धि में बाधक ही है। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्धज्ञान को अनावृत करने के लिए भौतिक वस्तुओं से ममता को काटने वाले वैराग्य के प्रति ही अगर ममता हो गई तो एक सूक्ष्म आवरण तो बना ही रहा। यद्यपि यह एक अत्यंत उच्च अवस्था या एक प्रकार से समाधि की अवस्था है पर वहाँ भी ममता का एक संस्कार, एक सूक्ष्म पारदर्शी आवरण बना हुआ है, इसिलिए यह सविकल्प समाधि है। और इस सूक्ष्म आवरण के भी समाप्त हो जाने पर जब निर्विकल्प समाधि होगी, तब परम सत्य का साक्षात्कार होगा। अतः इस पथ की अतिम और सबसे बड़ी प्रक्रिया यही है । समग्र जीवन से इस ममता को पूर्णतः निकाल देना है। समाधि के द्वारा इस ममता के विकल्प को भी मिटा देना है। तब कहीं मनुष्य के जीवन में पूर्णता आती है।

(शेष आगामी अक में)

जीवन्त-ईश्वर

स्वामी विवेकानन्द

('The Luang God') शीर्षक कविता का
स्वामी आत्मानन्द कृत अनुवाद)

जो तुम्हारे बहिः अन्तर में बसे,
सब करों से कार्य जो हैं कर रहे,
चल रहे जो सभी पैरों से सदा,
और तुम सब लोग हो जिनका शरीर,
करो पूजा उन्हीं की बस एकमात्र,
तोड़ डालो दूसरी सब मूर्तियाँ!

एकदम ही उच्च जो हैं नीच भी,
साधु-पापी, ईश-कीट—सभी—बने,
करो पूजा उन्हीं की बस एकमात्र–
दृश्य हैं जो ज्ञेय, सत्, सब-वर्तमान,
तोड़ डालो दूसरी सब मूर्तियाँ!

नहीं जिनमें भूत-जीवन विद्यमान,
औ' न है ही जन्म-मरण भविष्य का,
हम सदा जिनमें रहे हैं एक हो,
औ' रहेगे एक हो जिनमें सदा,
करो पूजा उन्हीं की बस एकमात्र,
तोड़ डालो दूसरी सब मूर्तियाँ!

मूर्ख तुम! जीवन्त ईश्वर छोड़कर,
छोड़कर प्रतिमूर्ति उनकी अनन्तों–
जगत् जिन प्रतिमूर्तियों से है भरा–
काल्पनिक छाया पकड़ने दौड़ते
जो सदा संघर्ष-झगड़ा पालती।
अतः यह सब छोड़, जो हैं दृश्यमान
करो पूजा उन्हीं की बस एकमात्र,
तोड़ डालो दूसरी सब मूर्तियाँ!

पूजा के रूप में सेवा

स्वामी रंगनाथानंद

(रामकृष्ण मिशन आश्रम, विशाखापत्तनम में भगवान श्रीरामकृष्ण के नवनिर्मित मन्दिर में प्राणप्रतिष्ठा-समारोह के सिलसिले में ३० जनवरी १९९१ ई. के दिन आश्रम प्रांगण में एक सार्वजनिक सभा हुई। उस अवसर पर रामकृष्ण मठ एवं मिशन के सहाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज द्वारा अंग्रेजी में प्रदत्त अध्यक्षीय भाषण का अनुलिखन "वेदान्त केसरी" के जुलाई अंक में प्रकाशित हुआ था। वहीं से हम इसका अविकल हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं।—सं.)

श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव किसी लघु समुदाय के लिए नहीं, अपितु संपूर्ण मानवता के लिए हुआ था। उनके, माँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों में मानवीय उत्कर्ष का एक महान सन्देश निहित है। हमारी जनसंख्या का अधिकांश भाग अब भी श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द से सम्बन्धित शक्तिदायी एवं उन्नतकारी साहित्य से परिचित नहीं हो सका है। प्राक्-स्वाधीनता काल के बहुसंख्य भारतवासियों ने विवेकानन्द साहित्य का अनुशीलन किया और उससे देश की आजादी के लिए संघर्ष करने के लिए चरम उत्साह अर्जित किया। महान बलिदानों के उपरान्त आखिरकार १९४७ ई. में हमने अपनी स्वाधीनता पा ली। परन्तु स्वाधीनता पाने के बाद हमारी जनता ने उसी उत्साह के साथ विवेकानन्द साहित्य पढ़ना जारी नहीं रखा और इसके फलस्वरूप हम अपनी आजादी को सबकी भलाई में नियोजित करना सीख नहीं सके। अत: हमारे स्वातंत्र्योत्तर समाज में भ्रष्टाचार, हिंसा, हीन मनोवृत्ति और सरकारी तथा गैर-सरकारी क्षेत्रों में तरह-तरह के दुराचार घर करते नजर आये। यदि आजादी

के बाद भी हमारी जनता उसी लगन के साथ रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का अध्ययन जारी रखती, तो हमें ये दुर्दिन नही देखने पड़ते। एक अंग्रेज इतिहासकार श्री एर्नाल्ड टॉयनबी का कहना है कि आधुनिक विश्व को केवल भारत ही बचा सकता है। उनका तात्पर्य किस भारत से था? निश्चय ही इस रुग्ण भारत से नहीं, बल्कि उनकी दृष्टि में तब बुद्ध, अशोक, रामकृष्ण और महात्मा गाँधी का भारत था।

रामकृष्ण-विवेकानन्द के फ्रांसीसी जीवनीकार रोमाँ रोलाँ ने एक अद्‌भुत वाक्य के माध्यम से श्रीरामकृष्ण का परिचय दिया है। उनका ग्रंथ श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द के जीवन का एक विश्लेषणात्मक तथा प्रशंसात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य पाठकों का इस ग्रन्थ से परिचय कराते हुए वे लिखते है—"रामकृष्ण न तो गाँधी के समान कर्मवीर थे और न ही कला व चिन्तन के क्षेत्र में गेटे तथा टैगोर के समान प्रतिभाशाली थे। वे बंगाल के एक छोटे ग्राम में जन्मे एक ब्राह्मण थे, जिनका बाह्य जीवन संकीर्ण परम्पराओं की सीमा में आबद्ध था, जिसमें कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई थी और जो तत्कालीन सामाजिक व राजनीतिक हलचलों मे सर्वदा पृथक् था।" यह तो हुआ श्री रामकृ़ष्ण के बाह्य जीवन का वर्णन। अब उनका यह अगला वाक्य अद्‌भुत है—"परन्तु उनके आन्तरिक जीवन में विविध देवताओं तथा मानवों का विचित्र समावेश था।" यह एक बड़ी अद्‌भुत बात है। बाहर से श्री रामकृष्ण अत्यन्त साधारण दिखते थे। परन्तु आन्तरिक रूप से उनमें महान परिवर्तन आये थे।

जब मैं स्कूल में एक छात्र था, हमारे मुख्य शिक्षक ने एक दिन कहा—"एक चीज तुम लोगों को सीख लेनी चाहिए—सादा जीवन और उच्च विचार।" यह बात मेरे मन में घर कर गयी। मैं इस पर चिन्तन करने लगा। सादा जीवन और उच्च विचार। कितना अद्‌भुत भाव है यह। दो-तीन वर्षों बाद मैंने 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नामक ग्रन्थ पढ़ा और उसमें मुझे इस "सादा जीवन और उच्च विचार" का एक सुन्दर प्रारूप मिल गया। बाद में जब माँ सारदा देवी की जीवनी मेरे पढ़ने में आई, तो उसमें भी मुझे यही आदर्श दीख पड़ा। बाह्यत: वे एक सरल सहज ग्राम्य महिला थीं, परन्तु आन्तरिक रूप से उनमें असीम मातृत्व की उज्जवल आत्मा स्पन्दित हो रही थी। हमारे आज के समाज में बहुत से लोगों का जीवन इसके ठीक उल्टा है। उनका बाह्य जीवन प्रभावशाली है, परन्तु अन्दर से वे खोखले हैं, यह हुआ ऊँचा जीवन और शून्य विचार।

आज हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि हम श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामीजी के उपदेशों का क्या करें? धर्म की हमारी विकृत धारणा जो मूर्खतापूर्ण विधि-निषेधों से परिपूर्ण है मानवता के हाथ-पाँव तथा मानस को दृढ़तापूर्वक बाँध रखती है। श्रीरामकृष्ण इन समस्त बन्धनों को काटकर मानवमात्र को मुक्त करने आये थे। सच्चा धर्म सर्वदा आनन्द एवं मुक्ति प्रदान करता है। श्रीरामकृष्ण सदैव आनन्दविभोर रहा करते थे। जब आप "श्रीरामकृष्ण-वचनामृत" में श्रीम द्वारा लिपिबद्ध विवरण पढ़ते हैं, तो देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण के कमरे में आनन्द का मेला लगा रहता था। श्रीरामकृष्ण के अनेक शिष्य थे, जिनमें अधिकांश युवा और कुछ प्रतिभावान छात्र भी थे।

श्रीरामकृष्ण उन लोगों को उपदेश दिया करते थे, परन्तु उनके शिक्षण की पद्धति ऐसी थी, जिसमें न तो शिक्षक को यह बोध होता था कि वे ज्ञान दे रहे हैं और न ही शिष्यों को पता चलता था कि उन्हें शिक्षा दी जा रही है। यही वह शिक्षा है जो स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से वेदान्त के एक युगान्तरकारी, उदार एवं गहन दर्शन और अध्यात्म के रूप में विश्व पर फट पड़ी थी।

इस दर्शन तथा आत्मविज्ञान के दो महान उपदेशों पर स्वामीजी ने विशेष बल दिया था। इनमें प्रथम था—मानव का आध्यात्मिक स्वरूप, जिसका तात्पर्य यह है कि हममें से प्रत्येक अव्यक्त ईश्वर है। आपको अपने जीवन, कर्म तथा अन्तर्मानवीय संबंधों द्वारा इस ईश्वरत्व को व्यक्त करना है। दूसरी बात यह थी कि यह ईश्वरत्व आन्तरिक रूप से ध्यान के द्वारा और बाह्य रूप से सेवा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। ये पाठ हम लोग विस्मृत कर चुके हैं और यही कारण है कि हमारी तथाकथित धर्म की साधना हमें वह शक्ति नहीं देती, जो एक सच्चे धर्म की साधना से मिलनी चाहिये। श्रीरामकृष्ण ने यह दिखा दिया है कि धर्म एक प्रबल शक्ति है। इसका उद्देश्य है हमें पशुभाव से उन्नत कर दिव्यभाव में प्रतिष्ठित करना। हमारा वेदान्त दर्शन निरन्तर बल देकर कहता है, "जन्तु मत बने रहो, जन्तु मत बने रहो। मुक्त हो जाओ, मुक्त हो जाओ।" जन्तु कौन है? वह जो सदैव बाह्य शक्तियों द्वारा परिचालित होता है, वह जिसमें आत्म-परिचालन की क्षमता नहीं होती। परन्तु वेदान्त कहता है कि अपना बन्धन तोड़ डालो। वह तुम्हारा अपना स्वभाव नहीं है। जन्तु मत बनो। मुक्त हो जाओ।

हमने यह सन्देश सुना, परन्तु अपनी दुर्बल मानसिकता

के कारण इसे अलग ढंग से समझा। हममें से बहुतों के लिए 'मुक्त हो जाओ' का अर्थ है कि अब हम अनुशासनहीन हो सकते हैं। हमें अभी समझ लेना चाहिए कि अनुशासनहीनता मुक्ति में बाधक है। अनुशासनहीनता दास का चिह्न है और आत्मसंयम एक मुक्त पुरुष का लक्षण है।

आज प्रातःकाल इस परिसर में श्रीरामकृष्ण के इस सुन्दर मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा हुई। हमारे भारत में मन्दिरों की भरमार है। अतः ऐसे मन्दिर का क्या वैशिष्ट्य है? एक मन्दिर सुन्दर स्थापत्य कला का एक नमूना मात्र नहीं है। यह आध्यात्मिक शक्ति के उत्पादन तथा वितरण का एक केन्द्र है। श्रीरामकृष्ण के एक मन्दिर के पीछे विविध सेवा कार्यों के माध्यम से मानवीय अवस्था को सुधारने का एक बृहत् प्रयास विद्यमान रहता है। यही सन्देश है जो हमें अपने उपनिषदों, गीता, श्रीमद्भागवतम् और श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द से प्राप्त होता है। जब तक हम इस सन्देश की ओर ध्यान नहीं देंगे, तब तक हमें मन्दिरों के भीतर देवमूर्ति तथा बाहर आसुरी-लीला ही दिखाई देगी। अपने पिछले कुछ काल के राष्ट्रीय इतिहास से हमें यही शिक्षा मिलती है। हम अत्यन्त धार्मिक बनकर भी एक-दूसरे के शोषण में लगे रहे और इसके फलस्वरूप पूरा राष्ट्र अधःपतित हो गया। हम वेदान्त का यह सन्देश भूल गये कि सभी जीवों के भीतर एक ही आत्मा का निवास है। धर्म के इसी महान चरित्रनिर्माणकारी सन्देश का स्मरण कराने के निमित्त ही श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ है।

श्रीमद्भागवतम् के तीन श्लोक इस सन्देश को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं। ये श्लोक उसके तीसरे स्कन्ध

से लिए गए हैं, जहाँ भगवदावतार कपिल अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुए कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायांभूतग्रामावमानिनः ॥३/२९/२१,२४

—"आत्मा के रूप में मैं प्रत्येक जीव में विद्यमान हूँ, परन्तु मरणशील मानव जीवों में मेरी अवहेलना करके प्रतिमा में पूजन का स्वांग करता है। ...जो व्यक्ति छोटे-बड़े अनेक उपचारों से तरह-तरह के विधि-विधानों के साथ मेरी मूर्ति का पूजन करते हुए भी, दूसरे जीवों का अपमान करता है, उससे मैं कदापि प्रसन्न नहीं हो सकता।"

अस्पृश्यता, जातिवाद तथा जनसाधारण के शोषण के द्वारा शताब्दियों तक हम यही तो करते आये हैं। देखिए तो कपिल कैसी भाषा का उपयोग करते हैं—नैव तुष्ये— "मैं बिलकुल प्रसन्न नहीं होता।" इसके बाद वे कहते हैं—अर्चितो अर्चायां भूतग्रामवमानिनः अर्थात् "भले ही तुम बड़े-बड़े मन्दिरों में भव्य उपचारों के साथ मेरी पूजा क्यों न करो, परन्तु यदि तुम भूतग्राम—बहुजन—आम आदमी का अपमान करते हो तो मैं तुम्हारी पूजा ग्रहण नहीं करता।" और इसलिए अगले श्लोक में एक सुन्दर सन्देश दिया जाता है—

अथ मां सर्वेषु भूतेषु भूतात्मनं कृतालयम् ।
अर्हयेत् दानमानाभ्यां मैत्र्या अभिन्नेन चक्षुषा ॥३/२९/२७

—"अतः सभी जीवों में आत्मा के रूप में जो मैंने पहले से ही मन्दिर बना रखा है, उसी में दान और सम्मान के द्वारा (सभी जीवों के अभाव दूर करते हुए और साथ ही

साथ उनके स्वाभिमान की भी रक्षा करते हुए) मित्रता और अभिन्नता के भाव सहित मेरा पूजन करो।"

कपिल यहाँ कहते हैं—सभी जीवों में मेरा पूजन करो, मैं सबकी आत्मा हूँ; पहले से ही सभी जीवों में मैंने अपने लिए एक मन्दिर बना रखा है और उसी में न केवल मेरी सेवा बल्कि पूजा भी करो। ध्यान दीजिए यहाँ सेवयेत् नहीं अर्हयेत् शब्द का प्रयोग किया गया है जो अर्चना शब्द से निकला है। अर्चना का अर्थ है पूजा।

अब हमारे सामने एक बड़ा प्रश्न उठता है कि हम मनुष्य में ईश्वर की पूजा कैसे करें? यदि आप इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं जानते हों तो शायद यह सोचने लगें कि क्या मैं सड़क पर मिलने वाले हर गरीब नर-नारी की आरती उतारूँ? नहीं, यहाँ तात्पर्य ऐसी पूजा से नहीं है। कपिल यहाँ स्पष्ट रूप से बताते हैं कि एक जीव में भगवान की पूजा कैसे की जाय, "तुम अपने आस-पास के लोगों के उचित अभावों को दूर करके मेरी पूजा कर सकते हो, परन्तु ऐसा करने के साथ ही साथ उन्हें सम्मान भी देना होगा।" क्या ही अद्भुत भाव है! हम दान-परोपकार कैसे करें? क्या अहंकारपूर्वक? कदापि नहीं, बल्कि सम्मान के साथ। आप जिनकी सेवा करते हैं, उन्हें सम्मान भी दीजिए। इस श्लोक में और भी तीन सुन्दर एवं तात्पर्यपूर्ण शब्द हैं—मैत्र्या अभिन्नेन चक्षुषा, "परम मित्रता एवं अभिन्नता के भाव सहित।" मूलतः हम सब एक हैं। वेदान्त का यह सारगर्भित सन्देश रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य में सर्वत्र ही बारम्बार दृष्टिगोचर होता है।

भाव यह है कि सभी जीवों की सेवा करके, उनके अभावों को दूर करके, उनके आँसू पोंछकर—उनमें ईश्वर

की सेवा करनी होगी। भारत में हमें इसको बड़े पैमाने पर ग्रहण करना होगा। आजकल जब आप किसी सेवाकार्य के निमित्त किसी ग्रामीण अंचल में जाते हैं, तो वहाँ के लोग आपके ऊपर सन्देह करते हैं। वे सोचते हैं कि कहीं ये लोग पुनः हमारा शोषण करने तो नहीं आ गये। उनका ऐसा सोचना न्यायसंगत ही है, क्योंकि वस्तुतः अनेक शताब्दियों से वे शोषित होते रहे हैं। इस कारण जब शहरी लोग ग्रामीण अंचलों में जाते हैं, तो वहाँ के निवासी डर जाते हैं। इस परिस्थिति को बदलना होगा। हमें वहाँ एक मित्र के रूप में जाना होगा। हमें उन्हें समझाना होगा, "हम यहाँ आपकी सहायता करने आये हैं ताकि आप लोग अपने पैरों पर खड़े हो सकें।" हमें अपनी वाणी तथा कार्य के द्वारा उन्हें इस बात का विश्वास दिलाना होगा। केवल तभी वे आप लोगों को स्वीकार कर सकेंगे। यही है वह मैत्रीभाव, जिसका पूर्वोद्धृत संस्कृत श्लोक में उल्लेख हुआ है।

अन्तिम दो शब्द—अभिन्नेन चक्षुषा—"अभिन्नता के भाव सहित"—भारतीय आध्यात्मिक परम्परा के सर्वोच्च उपदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदों तथा गीता में सर्वत्र ही आपको अभिन्नता का यह महान भाव दीख पड़ता है। मूलतः हम सब अभेद हैं। एक ही आत्मा हम सबमें विद्यमान है।

परन्तु खेद की बात है कि जिस देश ने अभिन्नता के इस महान दर्शन का प्रचार किया, उसी ने व्यवहार में अत्यधिक भिन्नता का भाव दर्शाया। हमारे इतिहास में काफी काल तक जातिभेद, वर्गभेद तथा साम्प्रदायिक भेद का राज्य बना रहा। हम मनुष्यों के बीच हर प्रकार के भेद को महत्व देते रहे हैं। इसे दूर करना होगा। यह असत्य है,

निराधार है और समाज के लिए अकल्याणकारी भी है। दुर्भाग्यवश स्पष्ट विचारों के अभाव में जनतंत्र के नाम पर आज हम मूर्खतापूर्वक इन भेदभावों को मजबूत बना रहे हैं। अभिन्नता के इस भाव को एक ध्रुव दृष्टिकोण के रूप में विकसित करना होगा। आजकल हम पाँच वर्षों में केवल एक बार चुनाव के दौरान ही इसका उपयोग करते हैं। उस समय हमारे तथाकथित बड़े लोग भी एक सामान्य जन की झोपड़ी के सामने जाकर खड़े होते हैं और घोषणा करते हैं, "हम सब एक है। हमें अपना वोट दीजिए हम आपके सेवक हैं।" परन्तु बुरी बात यह है कि यह भाव वे अपने पूरे राजनैतिक कार्यकाल के दौरान बनाये नहीं रहते, बल्कि यह बुलबुले के समान क्षणिक होता है और एक दिन में ही समाप्त हो जाता है।

प्रत्येक मानव का पूर्ण महत्व लोकतंत्र का केन्द्रीय सिद्धान्त है। हमारे वेदान्त दर्शन का भी यही केन्द्रीय उपदेश है। जब आप देखते हैं कि किसी वृद्ध महिला को वोट देने हेतु उठाकर मतदान-केन्द्र में ले जाया जा रहा है, तो क्या कभी आपने उसके महत्व पर विचार किया है? शारीरिक रूप से वह वृद्ध है, अशक्त है; परन्तु राजनीतिक दृष्टि से उसमें एक आन्तरिक अहस्तान्तरणीय मूल्य है। और वह उसे उसके लोकतान्त्रिक नागरिकता के अधिकार से प्राप्त हुआ है। उसमें निहित वह मूल्य किसी भी मायने में प्रधानमंत्री या अन्य किसी से न्यून नहीं है। अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या उस वृद्धा का मूल्य चुनाव समाप्त होने के बाद भी स्वीकृत होता है? हमारा अनुभव तो कहता है कि नहीं होता और यही हमारे लोकतंत्र की केन्द्रीय दुर्बलता है। केवल चुनावों के दौरान छोड़कर, बाकी समय हमारी

जनता एक नागरिक का सम्मान पाने के स्थान पर पशु का सा व्यवहार पाती है। हमारे राजनीतिज्ञों तथा प्रशासकों—दोनों वर्गों को देश के नागरिकों के साथ सम्मान तथा सहानुभूति से पेश आना सिखाने के लिए उन्हें शताब्दियों तक वेदांतिक तथा लोकतांत्रिक शिक्षा देने की आवश्यकता है। दस खंडों में प्रकाशित शक्तिदायी तथा पवित्रकारी "विवेकानन्द साहित्य" से हमें मनुष्य-निर्माण तथा राष्ट्र-गठन का यही वेदान्तिक सन्देश प्राप्त होता है।

हमारे अधिकांश देशवासी मन्दिरों में ईश्वर से सुनने नहीं, बल्कि सुनाने को जाते हैं। आज सम्पूर्ण भारत में हमारा धर्म कोलाहलपूर्ण, दिखावट-पसन्द तथा स्वार्थकेन्द्रिक हो गया है। परन्तु रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य में आपको धर्म के प्रति एक नया दृष्टिकोण परिलक्षित होगा। इस साहित्य में हमें क्या बताया गया है? यह कि आध्यात्मिक खोज की पिपासा लेकर मौन भाव से मन्दिर में जाओ। उसे स्वच्छ रखो। अपना चरित्र गढ़ने के लिए तथा उसे लोगों की सेवा में अभिव्यक्ति करने के लिए, वहाँ से जितना भी हो सके आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रहण करने का प्रयास करो। इसके बाद उस प्रेरणा को अपने जीवन तथा कार्यों के बीच रूपायित करने का प्रयास करो। भारत के कोटि-कोटि शिक्षित लोग इस अद्‌भुत सन्देश से अनभिज्ञ हैं। रामकृष्ण संघ के शाखाकेन्द्र जाति, मत, लिंग आदि से निरपेक्ष रहकर, सभी लोगों के बीच इस जीवनदायी तथा प्रेरक सन्देश के प्रचार को समर्पित हैं। इस सन्देश में इतनी शक्ति एवं मोहकता है कि यह हर राष्ट्र को लोगों को आकृष्ट करता है।

विश्व-मानस पर भारत का सर्वाधिक प्रभाव दर्शन तथा अध्यात्म के क्षेत्र में ही रहा है। हमारे राजनीतिक विचारों या अवदानों के लिए कोई भी हमारा सम्मान नहीं करता। इस क्षेत्र में हम वस्तुतः ग्रहीता मात्र रहे हैं। परन्तु भारत के दर्शन एवं अध्यात्म के समक्ष सम्पूर्ण विश्व श्रद्धावनत हो जाता है। विदेशों में स्थित हमारे राजनयिक दूतावास हमारे अपने खर्च से चलाए जाते हैं, परन्तु वहाँ के हमारे आध्यात्मिक दूतावास स्थानीय लोगों की ही आर्थिक सहायता से चलाये जाते हैं। हमारे देशवासी इसके तात्पर्य पर थोड़ा विचार करें तो बड़ा अच्छा हो। आप स्वयं ही स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थ पढ़कर देख लें कि वे प्रेरणा के कैसे खान हैं। यह एक सशक्त साहित्य है, मानवतावादी भावनाओं का साहित्य है।

श्रीरामकृष्ण का जो मन्दिर आज हमारे समक्ष खड़ा है, यह उस अद्‌भुत भाव एवं प्रेरणा के शक्ति-केन्द्रों में से एक है। ये मन्दिर मानों ऐसे केन्द्र हैं, ऐसे डायनेमो हैं, जहाँ से विचारों के प्रवाह निसृत होकर, न केवल धर्म के संकीर्ण दायरे में,अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानवता को उन्नत करते हैं।

* * * * *

कर्म और चरित्र

स्वामी सत्यरूपानंद

कर्मयोग पर व्याख्यान देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था – "विश्व में हम जितने भी कार्य देखते हैं, मानव-समाज की सारी गतिविधियाँ, हमारे चतुर्दिक के सारे कार्यकलाप सब मात्र हमारे विचारों के प्रस्फुटन हैं, मानव की इच्छाओं की अभिव्यक्ति हैं। यंत्र या औजार, शहर, जहाज या युद्ध वीर ये सब मानवी इच्छाओं के ही प्रस्फुटन हैं। और ये इच्छाएँ चरित्र का मूल होती हैं तथा चरित्र का निर्माण कर्म द्वारा होता है। जैसा कर्म होगा, इच्छाओं का प्रस्फुटन भी वैसा ही होगा।"

मानव अपने ही कर्मों से बना होता है। उसके सारे कार्य, उसकी रुचियाँ, विचार एवं अनुभव उसके भूतकाल के कर्मों द्वारा निश्चित किये जाते हैं। यदि हमारा वर्त्तमान हमारे अतीत के कार्यों का परिणाम है, तो यह निष्कर्ष तर्कपूर्ण है कि हमारा भविष्य हमारे वर्त्तमान कर्मों पर निर्भर करेगा। और जैसा कि हम जानते हैं, चरित्र ही मानव को पशुओं से ऊपर उठाता तथा चरित्र ही मानव में निहित शक्तिशाली दिव्यता को प्रस्फुटित करता और उसे सच्चा ईश्वर बनाता है।

कर्म किस प्रकार चरित्र को आकार देता है, इसे दिखाने की कोशिश के पूर्व हम 'कर्म' एवं 'चरित्र' शब्दों के अर्थों पर विचार करें।

कर्म

"कर्म" शब्द के दो अर्थ हैं— कार्य एवं इसका प्रभाव। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं– "कर्म शब्द संस्कृत के 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'करना'। सारे कार्य 'कर्म' हैं।

शास्त्रीय रूप से 'कार्य-प्रभाव' भी इसका अर्थ है। रहस्यवाद के क्षेत्र में यह कभी-कभी वैसे प्रभाव के लिए प्रयुक्त होता है जिसके कारण-स्वरूप थे हमारे भूतकाल के कार्य।"

यहाँ पर हम कार्य (वर्क) को 'कर्म' अर्थ में स्वीकार कर चलेंगे। जीवन में कार्य के महत्त्व की व्याख्या आवश्यक नहीं है। मानव-सभ्यता का सम्पूर्ण विकास 'कार्य' द्वारा ही सम्पन्न हुआ है। कर्म ने हमारे ग्रहों का पुराना चेहरा बदल डाला और इसको एक जीवित और सुन्दर प्रदेश बना दिया है। कार्य ही के द्वारा मनुष्य अपने 'स्व' की अछोर गहराई में उतरा तथा उस ज्ञान को प्राप्त किया जिसने उसे अमर बना डाला है।

चरित्र

'चरित्र' एक ऐसा बहु-अर्थी शब्द है जिसका विद्वानों एवं लेखकों ने विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। साहित्य में यह एक विशेष व्यक्तित्व का बोध कराने हेतु प्रयुक्त होता है। जीव-वैज्ञानिक किसी खास प्राणी की विशेषता बताने के लिए इसका प्रयोग करते हैं, उदाहरणार्थ इस मुहावरे–"वंशानुगत चरित्र" में 'चरित्र' शब्द व्यक्तित्व के पर्याय के रूप में सामान्यतः प्रयुक्त होता रहा है। इस अर्थ में भी यह शब्द किसी नारी या पुरुष के कुछ खास गुणों का बोध कराता है।

परन्तु "चरित्र" शब्द का यह सम्पूर्ण अर्थ नहीं हुआ। यद्यपि 'चरित्र' में मानव व्यक्तित्व का मनःसगठनात्मक अंश भी निहित है, इसका अर्थ इससे आगे भी है। चरित्र मानव-जीवन का एक उच्चतर एवं ज्यादा गहरा पक्ष है। इसका अर्थ मनुष्य के मनोवैज्ञानिक कार्यों का प्रस्तुतीकरण

मात्र नहीं है बल्कि इसमें मानव का नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष भी शामिल है। गॉरडन डब्ल्यू. एल्पॉर्ट अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "पर्सनाल्टी" में लिखते हैं—"इसलिए चरित्र को मानव-व्यक्तित्व के निर्णयात्मक पक्ष के रूप में परिभाषित करने के बदले यह स्वीकरना ज्यादा सुन्दर है कि यह एक नैतिक अवधारणा है। (न्यूयार्क: मैकमिकल कम्पनी- पृ. ५२) इसके आगे वह जॉन आडम्स का उल्लेख करते हैं। जब वह कहते हैं—"चरित्र किसी मानव का नैतिक आकलन है, मूल्यांकन हैं।"

मैकडूगल कहते हैं—चरित्र एक जटिल संगठन है। "जटिल संगठन" कुछ वैसे गुणों की तरफ संकेत करता है जो स्वयं में यद्यपि अमूर्त्त है तथापि यह हमें चरित्र के बारे में एक निश्चित एवं मूर्त्त विचार प्रदान करता है। महान मनोवैज्ञानिक स्वयं इसकी व्याख्या करते हैं—

"तब, इसके बावजूद, मनोविज्ञान की इस दिग्भ्रमित एवं पिछडी स्थिति के, विचारों एवं प्रयोगों का एक विचारणीय मिलन-बिन्दु भी है जो चरित्र शब्द के इस अर्थ को उचित ठहराता है कि यह हमारे भीतर निहित उन चीजों की तरफ संकेत करता है जो हमारी इच्छाओं में उच्चतर कार्य-कलापों में, कार्यों के नियंत्रण में, जीवन संघर्ष में धीरे-धीरे एक निश्चित आकार लेता है और जो इसीलिए बिखराव के लिए भी उत्तरदायी है—अवश्य ही एक जटिल संगठन है।" (द इनर्जीज ऑफ मैन, विलियम मैकडूगल, चतुर्थ सस्करण, पृ. १८८)

'चरित्र' समूचा आंतरिक व्यक्तित्व है जो मानव जीवन के अनेक भूत एवं वर्त्तमान काल के तत्वों का मिलाजुला

परिणाम है। स्वामी विवेकानन्द इसे मानव के भूतकाल की प्रवृत्तियों के कुल योग के अर्थ में ग्रहण करते हैं—

"चूँकि सुख एवं दुःख मानवात्मा के समक्ष आते-जाते रहते तथा इस पर विभिन्न छाप छोड़ते हैं—इन छापों के सम्मिलित परिणाम को मानव का चरित्र कहा जाता है। यदि आप किसी व्यक्ति के चरित्र को लें तो पाएँगे कि यह वस्तुतः उसकी प्रवृत्तियों का कुल योग है, उसकी मानसिक रुचियों का कुल योग है।"

इस प्रकार, हम देखते हैं कि चरित्र मानव के शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक कार्यों के कुल योग के परिणाम के रूप में एक जटिल संगठन है। इसलिए, हम कह सकते हैं कि वस्तुतः व्यक्तित्व की दृढ़ता और उसमें छिपी हुई दिव्यता के दिन-प्रतिदिन प्रस्फुटित होने का मार्ग ही चरित्र है। यह अपने शीर्ष बिन्दु पर पहुँचा हुआ तभी माना जाएगा, जब मानव अपने भीतर की दिव्यता को पूर्णतः महसूस कर लेता और सारे बंधनों से मुक्त हो जाता है।

चरित्र निर्माण कैसे होता है?

हम लोग अपने पुनर्निर्माण की शक्ति स्वयं में रखते हैं। इस शक्ति का किसी उच्चतर लक्ष्य की ओर समुचित प्रयोग चरित्र का निर्माण करता है। चरित्र अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा के पुनर्गठन की विधि है। यह स्वतः प्रकृतितः जीव में उत्पन्न होने वाले भौतिक गुणों या मूल प्रवृत्तियों की तरह किसी विकासात्मक प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। चरित्र एक ऐसी चीज है जिसका निर्माण एक निश्चित एवं उच्चतर लक्ष्य की तरफ अपनी पूरी सत्ता के साथ सतर्कतापूर्वक गुजरने के क्रम

में होता है। जब कोई पुरुष या नारी सच्चे अतःकरण से कुछ निश्चित उच्च मूल्यों एवं आध्यात्मिक गुणों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है/करती है। अनैतिक (एवं अनाध्यात्मिक) कार्यों से स्वयं को रोकता/रोकती है और अपने व्यक्तित्व के गठन की चेष्टा करता/करती है, मात्र तभी चरित्र का निर्माण होता है। दृढ़ इच्छा-शक्ति चरित्र-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। सतर्क एवं दृढ़ इच्छा-शक्ति के साथ व्यक्तित्व के पुनर्गठन एवं मानव-जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्ठा चरित्र-निर्माण के मार्ग का एक अपरिहार्य अंग है।

चरित्र-निर्माण के मार्ग

प्राचीन भारतीय ऋषियों एवं योगियों ने मानव-प्रकृति की गहरी पड़ताल कर चरित्र-निर्माण के मूलभूत सिद्धांतों की खोज की थी। यम एवं नियम के नाम से प्रचलित ये सिद्धांत सारे योग-मार्ग की नींव हैं। उन्होंने पाया था कि आदतों से ही चरित्र बनता है और किसी की आदतों को बदल कर उसके चरित्र को रूपान्तरित किया जा सकता है।

यह भी कहा जाता है कि आदतों के समूह का ही नाम चरित्र है तथा हम जानते हैं कि किसी कार्य के बार-बार करने से उसकी आदत बनती है। एक छोटे परीक्षण से देखें कि आज जो कार्य स्वतः हो जाता है, वह प्रारंभ में ऐसा आसान नहीं था। एक समय था जब वह कार्य कठिन था और सतर्कतापूर्वक कोशिश की माँग करता था। यदि कोई व्यक्ति किसी खास कार्य को अनगिनत बार दुहराता है तो वह कार्य उसके लिए आसान अथवा 'स्वाभाविक' हो जाता

है। कुछ समयोपरांत उसे जागरूक रहकर कोशिश करने की जरूरत नहीं रह जाती, कार्य स्वतः सम्पादित हो जाता है। इस प्रकार का स्थापित कार्य ही आदत है। इस प्रकार की समूची स्थापित आदतों को ही मनुज का चरित्र कहते हैं।

इस संदर्भ में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु जो ज्ञातव्य है, यह है कि पहले कार्य के पीछे एक सतर्क चिन्तन होता था। एक मानसिक व्यापार भी कार्य के पीछे निहित होता था। यह प्रक्रिया मस्तिष्क पर एक छाप छोड़ती थी। प्रत्येक बार कार्य दुहराया जाता था, और वही-वही छाप बराबर मस्तिष्क (मन) पर उठता रहा। कार्य के द्वारा निर्मित ये छाप ही हिन्दू मनोविज्ञान में संस्कार कही जाती हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—"संस्कार को 'वंशानुगत प्रवृत्ति' के बहुत नजदीक माना जा सकता है मन के लिए तालाब का रूपक प्रयुक्त करते हुए कह सकते हैं कि प्रत्येक लहर जो मन में उठती है, शान्त होने पर भी पूर्णतः मृत नहीं होती बल्कि, एक चिह्न छोड़ जाती है। इसी लहर के पुनः उठने की संभावना का चिह्न 'संस्कार' है। प्रत्येक कार्य जो हम करते हैं, शरीर की प्रत्येक गति, सोचा गया प्रत्येक विचार मनोपदार्थ पर एक छाप छोड़ता है, और यदि कदाचित् ये छाप मानस-पटल पर स्पष्ट नहीं हुईं तो भी इतनी मजबूत होती है कि अचेतन के रूप में सतह के नीचे कार्य करती हैं। प्रत्येक क्षण में हम क्या हैं — इसका निर्णय मस्तिष्क पर अंकित इन्हीं छापों के कुल योग के बराबर होता है। इस विशिष्ट क्षण में मैं जो हूँ — अपने विगत जीवन की सम्पूर्ण छापों के कुल योग के प्रभाव-स्वरूप हूँ। यही चरित्र का तात्पर्य है।"

स्वामीजी द्वारा किये गये उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि कर्म या कार्य ही हमारे चरित्र-निर्माण के पीछे वास्तविक शक्ति है। कर्म एक तटस्थ शक्ति है। कर्त्ता द्वारा दिये गये इस महान बल के निर्देश के अनुसार यह 'कर्म' अपने कर्त्ता का निर्माण या ध्वंस कर देता है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन इस बात पर निर्भर करता है कि वह इस बल या 'कर्म' का किस तरह प्रयोग करता एवं अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है।

सामान्यतः, कर्म को दो वर्गों में रखा जा सकता है— अच्छा और बुरा। अच्छा कर्म जीवन में अच्छा परिणाम एवं बुरा कर्म बुरा परिणाम ही देता है। इसी तरह, अच्छे कर्म सुन्दर संस्कार बनाते या बुरे कर्म बुरी छाप छोड़ते हैं। अच्छे कर्म हमें और भी अच्छे कर्म करने को तथा बुरे कर्म भी बुरे कर्म करने को प्रेरित करते हैं। इस तरह, कर्म और संस्कार मिलकर एक चक्रीय पथ बनाते हैं जो चरित्र-निर्माण के लिए नींव का काम करते हैं। कर्म में निहित अतुल शक्ति को मन पर सुन्दर छाप छोड़ने के लिए प्रयुक्त करना चरित्र-निर्माण की तरफ प्रथम कदम बढ़ाना है। परन्तु, यह तब तक नहीं हो सकता जब तक हम स्वयं जीवन का एक उदात्त लक्ष्य (आदर्श) निश्चित नहीं कर लेते। उच्चादर्श ही हमारी संवेदनाओं एवं आवेगों को जगाते तथा हमारी इच्छाओं को आदर्श-प्राप्ति के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिए, जीवन के लिए एक उच्चादर्श रखना — जिसके चारों ओर हम अपने चरित्र का निर्माण कर सकें — अच्छे चरित्र-निर्माण के हेतु मूल शर्त है।

चरित्र-निर्माण में उच्चादर्श का स्थान

एक निश्चित आदर्श ही हमारे जीवन के अर्थ प्रदान

करता तथा कर्म को दिशा-निर्देश देता है। उच्च लक्ष्य ही वह उद्देश्य है जिसके लिए जीवन बना है। प्रख्यात मनस्विद् जे.ए. हेडफील्ड कहते हैं—

"उच्चादर्श वह है जिसकी प्राप्ति से पूर्णता एवं आत्म-ज्ञान की उत्पत्ति होती है।" (सायक्लोजी एंड मोरल्स, लदन, १९४९, पृष्ठ ९७)

उच्चादर्श एक धारणात्मक लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति जीव की सारी इच्छाओं को तृप्त कर देती है तथा इसे पूर्णता के अहोभाव से भर देती है। पूर्णता एवं सन्तुष्टि के लिए बेचैनी जीवात्मा की प्रारंभिक माँग है। सच्चा आदर्श— जब इसे निश्चित कर लिया जाता है — जीव की इस प्रारंभिक माँग को अवश्य ही सन्तुष्ट करता है।

जीवात्मा की शाश्वत प्यास क्षणभंगुर-चीजों से नहीं बुझ सकती — चाहे वे कितनी भी महान एवं भव्य क्यों न हों। आध्यात्मिक ज्ञान और आत्म-ज्ञान ही मात्र जीवात्मा की मौलिक प्यास को पूर्णतः संतुष्ट कर सकते हैं तथा इसे पूर्णता एवं संतुष्टता (अहोभाविता) का भाव प्रदान कर सकते हैं। अतः मात्र एक ही ऐसा आदर्श है जिसके सहारे व्यक्तित्व-निर्माण तथा शानदार चरित्र-निर्माण हो सकता है— आध्यात्मिक आदर्श, आत्मज्ञान का आदर्श। और चूँकि सारी जीवात्माएँ पूर्ण ब्रह्म या ईश्वर का अंश है, अतः आत्म-ज्ञान का अर्थ हो जाता है— ईश्वर-ज्ञान। सच है कि ईश्वरानुभूति के अतिरिक्त भी अनेक आदर्श हैं जिन्होंने नर-नारियों को व्यक्तित्व गठन एवं चरित्र निर्माण की प्रेरणा दी है। उदाहरणार्थ — देशभक्ति का आदर्श या सामाजिक सुधार या राजनीतिक उपलब्धियाँ। यहाँ एक

प्रश्न उठ सकता है — क्या ये आदर्श एक पूर्ण एवं भव्य चरित्र के निर्माण के लिए काफी नहीं है?

उत्तर ऋणात्मक होगा। क्योंकि आदर्श के लिए यह आवश्यक गुण है कि स्वीकार कर लिए जाने के बाद यह अवश्य ही पूर्णता एवं संतुष्टि प्रदान करे। यदि हम उन लोगों के चरित्र का परीक्षण करें, जिन्होंने आध्यात्मिक आदर्श या ईश्वरानुभूति को त्यागकर उपर्युक्त आदर्शों के चतुर्दिक अपना चरित्र निर्मित किया है — तो पाएँगे कि उनके चरित्र का विकास मानव-व्यक्तित्व के कुछ अन्य उदात्त पक्षों की कीमत पर मात्र एक ही दिशा में हुआ है। चरित्र का यह एक पक्षीय विकास अंततः जीवन में असंतोष, निराशा और यहाँ तक कि अंततः पूर्ण विनाश की तरफ ले जा सकता है। हिटलर एवं मुसोलिनी के जीवन इस बात के प्रमाण है कि तुच्छ आदर्श मानव-चरित्र को विकृत कर सकते है तथा अनगिनत लोगों के लिए दुःख का कारण बन सकते हैं।

कोई भी आदर्श — चाहे वह कितना भी महान एवं भव्य क्यों न हो — यदि आध्यात्मिक आदर्श से कट जाता है तो नियत समय आने पर मानव में दोगलापन और संकीर्णता उत्पन्न करेगा ही तथा इस प्रकार उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास को अवरुद्ध एवं अपंग करते हुए अंततः आध्यात्मिक-सर्वनाश तक पहुँचा ही देगा। दूसरी तरफ, यदि यही राष्ट्रीय, राजनीतिक या सामाजिक उच्चादर्श ईश्वरानुभूति के आध्यात्मिक आदर्श से भी संयुक्त है तो जीवन के उच्चतम लक्ष्य तक पहुँचाने का साधन उसको बनाया जा सकता है। जब ऐसे आदर्शों को लक्ष्य के बदले साधन बना लिया जाता है तथा ईश्वरानुभूति के उच्चतम

आदर्श के नीचे रख लिया जाता है तो ऐसे आदर्श एक गाँधी, एक अरविन्द या एक तिलक का निर्माण करते हैं जिनका जीवन मानवता के लिए वरदान और स्वयं उनके लिए आशीर्वाद बन गया।

इस तरह, हम देखते हैं कि एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व और एक सम्पूर्ण चरित्र का तब तक निर्माण नहीं हो सकता जब तक कि इसके आधार के रूप में एक आध्यात्मिक आदर्श नहीं होगा।

इच्छा-शक्ति की भूमिका

चरित्र-निर्माण एक द्वि-पक्षीय मार्ग है — ऋणात्मक और धनात्मक। प्रारंभ में ही हमने देखा की दृढ़ इच्छा-शक्ति चरित्र निर्माण में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। जैसे ही आदर्श निश्चित किया जाता है, व्यक्ति को स्वयं की परीक्षा करनी होती है और देखना होता है कि कौन से आवेग, संवेदन एवं गुण उसके व्यक्तित्व में है जो आदर्श के अनुकूल हैं तथा उसके कौन-कौन से आवेग, संवेदन और कार्य उसके आदर्श के विपरीत एवं आदर्श की प्राप्ति के मार्ग में बाधा-स्वरूप हैं। प्रारंभ में ही व्यक्ति को उन आवेगों एवं संवेदनों को नियंत्रित करना पड़ता है जो उसकी आदर्श प्राप्ति के विकास-मार्ग को अवरुद्ध करते हैं तथा उन आदतों को छोड़ना पड़ता है जो अच्छे चरित्र के निर्माण में बाधक हैं।

अब यहीं पर इच्छा-शक्ति का स्थान आता है। किसी के व्यक्तित्व में मात्र सुन्दर एवं असुन्दर की तलाश अथवा संवेदनाओं एवं संवेगों की तलाश ही चरित्र-निर्माण के लिए काफी नहीं है। व्यक्ति को इसके साथ ही अपनी इच्छा-शक्ति

को लगाना होगा तथा उन संवेगों एवं संवेदनों को नियन्त्रित करना होगा जो आदर्श-प्राप्ति के लिए बाधक हैं तथा उन भावों एवं संवेदनों को उर्वर बनाना होगा जो अच्छे चरित्र-निर्माण के लिए सहायक हैं। हम यहाँ पर इच्छा-शक्ति के संबंध में दार्शनिकों के विचारों का परीक्षण नहीं करेंगे, न ही इसके आध्यात्मिक अर्थ एवं इसकी मुक्ति के विस्तार आदि की बात करेंगे। हम मात्र यह देखेंगे कि इच्छा-शक्ति किस तरह काम करती है तथा हम अपने आदर्श की प्राप्ति हेतु इसका उपयोग किस तरह कर सकते हैं।

सारे व्यावहारिक उद्देश्यों में, इच्छा-शक्ति को चित्त के एक अंश की क्रिया के रूप में हम मान सकते हैं। जब हमें कोई आदर्श अच्छा लगता है, यह हममें इसे पाने के लिए एक दृढ़ आकांक्षा को गतिशील करता है। यह आकांक्षा एवं संवेदनों एवं संवेगों के सहयोग से इतनी गहरी एवं शासिका हो जाती है कि यह उन तमाम संवेगों-संवेदनों को शमित कर देती है जो आदर्श-प्राप्ति के अनुकूल नहीं है तथा हमें ऐसे काम करने को उत्प्रेरित करती एवं ऐसे संवेगों-संवेदनों को पाल कर रखती है जो आदर्श के अनुकूल हैं। इसी स्तर पर गहरी आकांक्षा 'इच्छा-शक्ति' बन जाती है। यही इच्छा-शक्ति आगे चलकर निश्चित प्रयोग एवं व्यवहार के द्वारा और भी मजबूत होती चलती है। जब सर्वप्रथम कोई रुचिकर आदर्श हमारी आकाक्षा को उत्प्रेरित करता है तो पूर्वकाल की आदतों के द्वारा उनका विरोध होने की संभावना रहती है। इस धरातल पर आकांक्षा इच्छा-शक्ति नहीं हो पाती। आदतजन्य-बल इस आरंभिक (नवजात) इच्छा को दबा देने की कोशिश करते तथा व्यक्ति को उसके

सम्मुख झुकने को विवश करते हुए पुराने मार्ग पर ही लगाना चाहते हैं। पर वे, जो सुन्दर चरित्र बनाना चाहते हैं, इनके समक्ष झुकते नहीं बल्कि और भी शक्ति के साथ उनके विरुद्ध लड़ने को कटिबद्ध हो जाते हैं। वे बराबर नवजात इच्छा को कुचल देना चाहते हैं (जब भी इच्छा की जाती है) तथा बार-बार की आदत से एक शक्तिशाली एवं दृढ़ इच्छा-शक्ति का निर्माण करते हैं। इस प्रकार के आदमी के मनोमस्तिष्क के लिए ऐसी पूर्णतः विकसित एवं प्रौढ़ इच्छा-शक्ति एक स्थायी हिस्सा बन जाती है। इस तरह, अभ्यास के द्वारा, व्यक्ति इच्छा-शक्ति को जन्म देता तथा अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता है। इच्छा-शक्ति को विपरीत दिशा में खींच ले जाने वाली उसकी पुरानी आदतें धीरे-धीरे अपनी शक्ति खो देती हैं।

जो प्रवृतियाँ मानव को आधार रहित बनातीं और उसके चरित्र को गिराती है, उनको दबाने के लिए कितने समय तक मानव को अपनी इच्छाओं को बलवान बनाना और अभ्यास करना पड़ेगा? किस स्थिति में हम कह सकते हैं कि एक आदमी चरित्र वाला होता है? स्वामी विवेकानन्द ने एक पूर्णतः सुन्दर चरित्र की कसौटी दी है। महान स्वामी कहते हैं— "जब एक आदमी बहुत अधिक अच्छे कर्म कर चुकता है और बहुत से उच्च विचारों को अपना लेता है तब उसके भीतर अपने से विरुद्ध काम करने की प्रबल प्रवृत्ति जाग उठती है तथा वह चाहकर भी किसी की बुराई नहीं कर सकता, उसकी प्रवृतियाँ उसे वापस मोड़ती हैं और वह पूर्णतः सु-प्रवृतियों के अधीन हो जाता है। जब ऐसी स्थिति आ जाय तब कहा जाएगा कि उस आदमी का सुन्दर चरित्र अब स्थापित (दृढ़)हो गया।"

इस कसौटी पर हमें अपने चरित्र का निर्णय करना होगा। हमें अपनी परीक्षा करनी होगी तथा देखना होगा कि वे कौन-सी प्रवृत्तियाँ हैं जो हमारे चरित्र में मुख्य हैं। हमें पता लगाना होगा कि हमारे कर्मों के पीछे हमारी मूल नीयत क्या रही है। हमारे जीवन में दृढ़ आत्म-परीक्षण तथा अंतःपरीक्षण का होना अनिवार्य है। चरित्र-निर्माण एक सतत प्रक्रिया है तथा हमें इसके लिए सदा सावधान रहना होगा। यदि हमारी सु-प्रकृतियाँ दिन-प्रतिदिन बलवान होती जा रही हैं तभी हम कह सकते हैं कि हम सुन्दर चरित्र की प्राप्ति की तरफ सही दिशा में अग्रसर हो रहे हैं!

शुभ कर्मों और विचारों को तीव्र करो

मनुष्य ने विद्युत-शक्ति पर काबू पाने के नियमों को खोजा तथा उनको लागू कर वह उस महान शक्ति का स्वामी हो गया। आज वह इस शक्ति को अपने सेवक की तरह प्रयुक्त कर रहा है। ठीक इसी तरह, यदि एक आदमी मन पर काबू पाने के नियमों को जानता है तो उन नियमों के प्रयोग द्वारा वह मन कर काबू पा सकता है तथा अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने में इस (मन) की शक्ति का सुन्दरतम उपयोग कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द हमें बताते हैं— "जब लोग बुरे कर्म करते हैं तो वे और भी बुरे होते जाते हैं और जब वे अच्छा कर्म करना शुरू करते हैं, तो वे अधिकाधिक बलवान होते जाते हैं तथा सदा सर्वदा अच्छे कर्म ही करना सीख जाते हैं।" इसलिए, चरित्र-निर्माण हेतु हम इसे आधारभूत नियम के रूप में स्वीकृत कर सकते हैं कि सुकर्मों को बार-बार दुहराने से तथा सुन्दर विचारों को बार-बार सोचने से सुन्दर चरित्र और भी दृढ़ हो जाता

है। पतंजलि के योगसूत्र के प्रथम अध्याय के १२ वें सूत्र की मीमांसा करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने इस नियम की बहुत सुन्दर व्याख्या की है। उन्हीं के शब्दों में— "हम अभ्यास क्यों करें? क्योंकि, हमारा प्रत्येक कर्म तालाब की सतह पर उठने वाली लहर की तरह है। कम्पन के नष्ट हो जाने के बाद क्या शेष रहता है? संस्कार, छाप। जब मन पर इस प्रकार की असंख्य छाप अंकित हो जाती है तो वे एकीभूत होकर—'आदत' बन जाती हैं। कहा गया है- 'आदत मनुष्य की दूसरी प्रकृति है।' प्रथम प्रकृति भी है तथा उसकी पूरी प्रकृति या वह जो भी है—अपनी आदतों का ही परिणाम है। इससे हमें आश्वासन मिलता है, क्योंकि आदत ही मात्र ऐसी चीज है जिसे हम कभी किसी भी समय बना या बिगाड़ सकते हैं। मन के ऊपर से इन कम्पनों के गुजरने के बाद संस्कार शेष रहते हैं—अपना-अपना परिणाम छोड़ते हुए। ऐसे ही चिह्नों (छापों) के कुल योग का नाम है सस्कार और इसी के अनुरूप, जब कोई विशेष लहर उठती है तो व्यक्ति उसे पकड़ लेता है। यदि अच्छी लहर मिली तो आदमी अच्छा हुआ, यदि बुरी मिली तो बुरा, यदि प्रसन्नता मिली तो व्यक्ति प्रसन्न हुआ। बुरी आदतों से छुटकारे का एक ही मार्ग है—प्रति-आदत। अपना प्रभाव छोड़ जाने वाली तमाम आदतों को अच्छी आदतों के द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। सदा सु-कर्म करते चलो, पवित्र विचारों को ग्रहण करते चलो — सतत। मात्र यही उपाय है बुरी आदतों से बचने का। कभी किसी व्यक्ति को 'न सुधरने वाला' मत कहो, क्योंकि वह तो चरित्र का प्रतिनिधित्व मात्र करता है, एक आदतों के समूह का प्रतिनिधित्व — जिनको नयी एवं सुन्दरतर आदतों द्वारा रोका जा सकता

है। बार-बार दुहराई आदतें ही चरित्र हैं तथा दुहरायी गयी आदतें मात्र ही चरित्र का सुधार कर सकती हैं।"

दुनिया के सबसे नीच पापात्मा के लिए भी मात्र यह परित्राणदायक संदेश है। कैसा भी पाप किसी व्यक्ति ने क्यों न किया हो, वह सदा के लिए विनष्ट नही हो गया। सदा के लिए ही वह नरक का निवासी नहीं हो गया। संसार के प्रत्येक पापी का भी एक भविष्य है। यह तो उसके बुरे कर्म हैं जिन्होंने उसे पापी बना डाला है। पर, प्रत्येक कर्म अच्छे कर्मों द्वारा नष्ट किया जा सकता है, प्रत्येक बुरी प्रवृत्ति अच्छी प्रवृत्ति के द्वारा नियत्रित की जा सकती है। यदि बुरे कर्मों ने हमारे चरित्र को बुरा बना डाला है तो अच्छे कर्म उसी प्रकार उसे भला भी बना सकते हैं तथा चरित्र को सुन्दर बना सकते हैं। यह संदेश महान उत्साह और आशा से भरा हुआ है। मानव चाहे मस्तिष्क की जिस स्थिति में या जीवन की जिस परिस्थिति में हो, उसी बिन्दु से वह अपने चरित्र के पुनर्निर्माण की कोशिश द्वारा जीवन की नयी यात्रा का प्रारभ कर सकता है।

मनुष्य अपने चरित्र का निर्माता स्वयं है। अपनी इच्छा से उसने कर्म की महान् शक्ति उपलब्ध की है। यदि बुरे कर्मों ने आज उसे पापी बना डाला है, तो यह हजारों बार अधिक सत्य है कि उसके अच्छे कर्म उसे कल महात्मा भी बना देंगे। क्योंकि वस्तुतः मनुष्य तो देवता है, पापात्मा नहीं। जब मनुष्य कर्म की शक्तियों का प्रयोग करना शुरू करता है, तो उसका मन पवित्रतर होने लगता है। सुन्दर कर्मों की शक्ति जैसे ही आत्मा के ऊपर के आवरण को फाड़ती है, आत्मा का प्रकाश तुरन्त तीव्र से तीव्रतर होकर—प्रस्फुटित होने

लगता है। परिणाम होता है — बुरी प्रवृतियों पर नियंत्रण तथा तत्क्षण ही अच्छी प्रवृतियों का उत्प्रेरण। और एक समय आता है जब मानव की चेतना और उसका मन बुरे कर्म करने या बुरे विचार आने से पूर्णतः असमर्थ हो जाते हैं। मात्र तभी किसी आदमी को दृढ़चरित्र वाला कहा जा सकता है। मात्र वही आदमी मुक्त है जो सदा सुन्दर विचार करने, बोलने और कर्म के लिए मुक्त है। सच्ची मुक्ति पवित्र चरित्र की नींव पर ही खड़ी हो सकती है।

(प्रबुद्ध भारत: नवम्बर १९८१ से
श्री सुरेश कुमार मिश्र द्वारा अनूदित—सं.)

अद्रिकन्यां नमामि

शरणागतानां सन्तापहन्त्रीं
भवाब्धिनिस्तारणयानदात्रीम्।
आह्लादिनीं शक्तिमयीं शिवस्य
तामद्रिकन्यां शिरसा नमामि॥

शरणागतों के सांसारिक तापों को हरने वाली, भवसमुद्र से तारनेवाला यान प्रदान करने वाली, शिवजी की आह्लादिनी शक्ति उन हिमालय की पुत्री कन्याकुमारी देवी को मैं नतमस्तक हो प्रणाम करता हूँ।

—रवीन्द्रनाथ गुरु

सत्यमेव जयते-(२)

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

सत्य और शील

सत्यवचन की तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण शर्त सर्वभूतों का उपकार है। इसी को गीता में 'सत्यं प्रियहितम्' कहा गया है। सत्य विषयक प्रसिद्ध श्लोक में भी इस बात को बलपूर्वक कहा गया है.

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्मा ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।

अर्थात् — "सत्य बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो, प्रिय असत्य का भी भाषण न करो। यही सनातन धर्म है।" कुछ लोगों का तो कहना है कि भूतहित ही सत्य की एकमात्र कसौटी है।

न तत्त्ववचनं सत्यं नातत्ववचनं मृषा।
यद् भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम।।

सत्य के साथ प्रियत्व या लोकहितकारित्व के महत्व को रामचरितमानस के धर्मरथ प्रसग में भी प्रदर्शित किया गया है। लेकिन वहाँ इसे "शील" की सज्ञा दी गयी है। धर्मरथ के ऊपर सत्य और शील रूपी ध्वजा व पताका होनी चाहिए।

सौरज धीरज जेहि रथ चाका।
सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका।।

सत्य की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह अधिकाशतः कटु होता है। मृत्यु, जरा, व्याधि, जगत् की अनित्यता आदि सत्य अत्यन्त अप्रिय हैं। व्यावहारिक जीवन में वचनवद्धता,

व्रतपालनादि भी कठोर एव शुष्क होते हैं। यही बात सत्य-वचन के सम्बन्ध में भी है। सत्य-पालन एवं सत्य-वचन व्यक्तिगत आदर्श के रूप में महान हैं। लेकिन वे व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण साधक के अहंकार की वृद्धि भी कर सकते हैं। इसके विपरीत शील एक ऐसा लोकपरक आदर्श है जो अहिंसा से सम्बन्धित है तथा जो सत्य को अहिंसा के साथ जोड़कर अधिक व्यापक बना देता है। उच्चतम पारमार्थिक सत्य तो यह है कि सभी जीवों में भगवान हैं। मेरी आत्मा समस्त प्राणियों की आत्मा है। अतः कोई भी सत्य जो सर्वभूतस्थित परमात्मा को कष्ट प्रदान करे, सत्य कैसे हो सकता है? यही कारण है कि अहिंसा के बिना सत्य का पालन व वाचन असम्भव है।

शील— स्वभाव की वह सहज मधुरता, विनम्रता, निरभिमानिता है जो किसी दूसरे को कभी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहती । शील का भाव है, "मेरे कारण किसी दूसरे को कष्ट न पहुँचे।" यह सत्य को पूर्णता प्रदान करता है तथा सत्य की कटुता को दूर कर उसे सर्वलोकहितकारी बनाता है। एक दृष्टान्त के माध्यम से इसे समझने का प्रयत्न करें।

महाराज दशरथ सत्यनिष्ठा के एक श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध दृष्टान्त हैं। उन्होंने अपने व्यक्तिगत सत्य की रक्षा के लिए राम को तथा अपने प्राण भी त्याग दिये। लेकिन उन्हें यह भय भी था कि ऐसा न करने से कही व्रतभंग का कलंक न लगे। इसके विपरीत श्री भरत शीलनिष्ठ महापुरुष हैं। पिता के सत्य की रक्षा के लिए राम ने भले ही वनवास स्वीकार किया हो, लेकिन भरत ने राज्य स्वीकार नहीं किया। वे समग्र अयोध्यावासियों के साथ श्रीराम को वापस लौटा

लाने के निश्चय के साथ चित्रकूट जाते हैं, लेकिन उनकी अनिच्छा देखकर अपने निर्णय को त्यागने में उन्हें संकोच नहीं होता। वे किसी भी प्रकार से राम को कष्ट देना या असमजस की स्थिति में डालना नहीं चाहते। वे राम के विरह में दशरथ की तरह शरीर त्याग नहीं देते, बल्कि अयोध्या के समग्र प्रलोभनों के बीच निर्लिप्त, राम का विछोह सहते हुए तपस्वी का सा जीवन व्यतीत करते हैं।

सत्यवचन के अपवाद

प्रत्येक महान नियम या आदर्श के अपवाद भी होते हैं। अतिप्राकृत लोगों अथवा बालकों को समझाने के लिए कभी-कभी अर्धसत्य या असत्य का आश्रय भी लेना पड़ता है। बालक नरेन्द्र (जो आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द हुए) जब बहुत अधिक शैतानी करते थे तो उनकी माँ उन्हें शान्त करने के लिए कहती थीं कि यदि तू इस तरह का व्यवहार करेगा तो शिवजी तूझे कैलाश नहीं आने देंगे। नरेन्द्रादि बालक एक बगीचे के पेड़ों पर चढ़कर बहुत उछल-कूद किया करते थे। उन्हें इससे विरत करने के लिए एक वृद्ध का कहना कि वृक्ष पर रहने वाला ब्रह्मदैत्य तुम्हारा सिर फोड़ देगा — यह भी इसी प्रकार के वचन का दृष्टान्त है। पुराणों की अतिशयोक्तियाँ एवं अर्थवादादि किसी उच्चतर सत्य विशेप को समझाने के लिए असत्य के आश्रय के दृष्टान्त हैं। श्रीरामकृष्ण की रुग्णावस्था में माँ सारदा दूध को गरम कर गाढ़ा करके पिलाती थीं, जिससे उन्हें यह पता न चले कि वे कितना दूध पीते हैं। इस प्रकार के प्रेम एव कल्याण-कामना से प्रेरित प्रवंचनापरक कार्य सत्य के विरोधी नहीं हैं। महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण

के अनेक कार्य इसी श्रेणी में आते हैं। इन सभी कार्यों के पीछे उद्देश्य की सत्यता ही आचरण की सत्य का निर्धारण करती है।

मानसिक सत्य (मन-मुख एक करना)

जब साधक व्यावहारिक और वाचिक सत्य के पालन में अग्रसर होता है तो कुछ समस्याएँ उसके समक्ष उपस्थित होती हैं। सर्वप्रथम तो उसे अपने सभी कार्यों में अत्यधिक सतर्क होना पड़ता है जिससे वह सत्य विरोधी कार्य न कर बैठे। यह उसके लिए एक प्रकार का तप है, जिससे उसकी इच्छाशक्ति बलवती होती है। वस्तुतः निष्ठापूर्वक की गयी सत्य की साधना साधक को मानो एक नये भावराज्य में प्रवेश कराती है।

अपने सामान्य प्रमादपूर्ण, लापरवाही से बीतने वाले जीवन को परिवर्तित करने का इस तरह का प्रयत्न अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि करता है। वस्तुतः अतिमूढ़ व्यक्ति तथा ब्रह्मज्ञानी पुरुष के अतिरिक्त सभी व्यक्तियों के जीवन में संघर्ष व अन्तर्द्वन्द्व होते हैं और साधक-जीवन के प्रारम्भ में तो वे अनिवार्य ही हैं। प्रथम तो साधक के उच्च आदर्श और उसकी अविजित वासनाओं के बीच संघर्ष होता है। द्वितीयतः सामाजिक मूल्यों एवं व्यक्तिगत आदर्श के बीच भी संघर्ष उपस्थित हो जाता है। ये द्वन्द्व विविध प्रकार से अभिव्यक्त होते हैं। प्रथम प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व विस्मरण, जिह्वाच्युति अर्थात् क्या बोलना चाहते थे क्या बोल गये, तथा असामान्य स्वप्नों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। उदाहरणार्थ एक शिष्य ने स्वप्न देखा कि वह गुरु के आदेश की अवज्ञा कर रहा है। दैनन्दिन जीवन में गुरु के प्रति

अत्यन्त श्रद्धायुक्त होते हुए भी उसका यह स्वप्न उसके अन्तर्मन में प्रसुप्त अवज्ञा के भाव का द्योतक है।

दूसरे प्रकार के द्वन्द्व अर्थात् सामाजिक मान्यताओं एवं स्वयं की इच्छा एवं आदर्श के बीच का द्वन्द्व अधिकाशतः कपटाचार का रूप लेता है। एक संन्यासी से समाज एक विशिष्ट प्रकार के आचरण की अपेक्षा करता है, लेकिन यदि तदनुरूप चरित्र-निर्माण न हुआ हो तो वह केवल बाह्य आचरण मात्र बनकर रह जाएगा। इस विषय में श्रीरामकृष्ण एक बंगाली दोहा कहा करते थे—

कान तुलसे मुख हलसा दीघल घुमटा नारी।
पानापूकुरेर शीतल जल, बड़ो मन्दकारी।।

अर्थात् ऐसा व्यक्ति जिसने कान में तुलसी खोंस रखी हों, जो व्यक्ति अधिक बोलता है, लम्बी लम्बी घूँघट वाली स्त्री तथा ऐसे सरोवर का जल जिस पर काई जमी हो — बड़े अनर्थकारी होते हैं। इन सभी वस्तुओं की प्रतीति और यथार्थ में अन्तर है। जिस व्यक्ति ने कान में तुलसी लगा रखी है, वह धार्मिक न होते हुए भी स्वयं को धार्मिक दिखाना चाहता है। अधिक बोलने वाले व्यक्ति के वास्तविक चरित्र की थाह नहीं पायी जा सकती। लम्बी घूँघट वाली नारी सम्भवतः असती होते हुए भी स्वयं को अत्यन्त लज्जाशीला बताने का प्रयत्न कर रही है तथा जिस सरोवर में काई जमी है, उसकी गहराई की थाह पाना कठिन है। ये दृष्टान्त मात्र हैं, लेकिन सत्य तो यह है कि हम सभी किसी न किसी प्रकार का कपटाचरण करते हैं। समाज हमें अपने व्यक्तित्व के बुरे पक्ष को छिपा कर शुभ पक्ष को व्यक्त करने को बाध्य करता है। श्रीरामकृष्ण की भाषा में हमारे 'मन और मुख' एक नही होते।

श्रीरामकृष्ण का आचरण इसके विपरीत था। उन्होंने कभी स्वयं को समाज की मान्यताओं के अनुरूप सजाने-सँवारने का प्रयास नहीं किया। एक बार वे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से मिलने गये। मुलाकात के बाद महर्षि ने श्रीरामकृष्ण को ब्राह्मसमाज की प्रार्थना-सभा में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया। श्रीरामकृष्ण ने कहा कि वे प्रार्थना सभा में जाने को तैयार है, लेकिन 'बाबू' नहीं बन सकेंगे। भाव अथवा समाधि की अवस्था में उनका बाह्यबोध लुप्त हो जाता है तथा कभी-कभी तो उनका वस्त्र ही शरीर से खिसककर गिर जाता है। ऐसे में लोग उन्हें अभद्र समझ सकते हैं तथा समाज की मर्यादा भँग हो सकती है। पहले तो महर्षि ने श्रीरामकृष्ण की इस आपत्ति को अग्राह्य किया, लेकिन बाद में कहला भेजा कि श्रीरामकृष्ण का ब्राह्मसमाज की सभा में न आना ही उचित है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सत्य के साधक की अधिक महत्वपूर्ण समस्या स्वयं के आदर्शों और वासनाओं के बीच अन्तर्द्वन्द्व की है। इस सम्बन्ध में भी श्रीरामकृष्ण की सत्यनिष्ठा, बाह्य व्यवहार और मानसिक स्थिति के बीच पूर्ण ऐक्य उल्लेखनीय है। श्रीरामकृष्ण अखण्ड ब्रह्मचारी थे। लेकिन उन्होंने पूर्ण कामजय किया है या नहीं, यह जानने के लिए उन्होंने अपनी धर्मपत्नी माँ सारदा को अपने पास नौ माह तक रखा था। एक रात्रि को जब माँ सारदा उनके पास सो रही थीं, श्रीरामकृष्ण ने अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहा, "रे मन इसी का नाम नारी शरीर है, जो संसार के सभी लोगों के लिए अत्यन्त वांछनीय, प्रिय एवं भोग्य है। तुझे यह धर्म से प्राप्त है। अगर तू चाहता है तो इसका भोग कर लेकिन इसके भोग से तू भगवान से विमुख हो जाएगा।

लेकिन मन में एक बात और बाहर दूसरी बात ऐसा मत कर।" स्वयं के मन को इस तरह सम्बोधित करने के बाद उन्होंने ज्यों ही माँ सारदा की देह को स्पर्श करने के लिए हाथ बढाया, त्यों ही उनका मन गहरी समाधि में लीन हो गया। इस दृष्टान्त में महत्वपूर्ण बात है श्रीरामकृष्ण का अपने मन को सम्बोधित करके उसे इच्छानुरूप आचरण के लिए प्रेरित करना, जिससे बाह्य आचरण और मन की सूक्ष्म वासना में कोई अन्तर न हो।

अन्तर्द्वन्द्वों के इस विस्तारित विश्लेषण का उद्देश्य सत्य साधना के तीसरे और सबसे महत्वपूर्ण पक्ष–मानसिक सत्य या 'मुन-सुख एक करना' — की भूमिका तैयार करना है। जब तक हमारा अन्तर और बाहर, मन और मुख, कथनी और करनी, चिन्तन और व्यवहार एक नहीं हो जाता, तब तक हम सत्यप्रतिष्ठ नहीं कहला सकते।

चिन्तन और व्यवहार के द्वन्द्व को दूर करने के लिए पाश्चात्य मनीषियों एवं भारतीय आचार्यों ने नाना उपाय बताए हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान की एक शाखा, जिसे Bchaviorist School कहा जाता है, व्यवहार को महत्व देती है। इस पद्धति में अपने मन को व्यवहार के अनुरूप बनाने का निर्देश दिया जाता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य मनोविज्ञ फ्रायड वासनाओं को प्रशमित करने के बदले उन्हें खुली छूट देने के पक्ष में हैं। भोगेच्छा एवं वासनाएँ स्वाभाविक रूप से सभी में विद्यमान रहती हैं। हमारा आचरण यदि हमारे मन में स्वाभाविक रूप से वर्तमान वासनाओं के अनुरूप हो तो हम अन्तर्द्वन्द्वों एवं कुण्ठाओं के शिकार नहीं होंगे। उन्हें बुरा समझना कुण्ठाओं को जन्म देता हैं। एक अन्य पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक पद्धति में मन में उठ रहे अन्तर्द्वन्द्वों, विचारों

आदि के निष्पक्ष साक्षी बनने का अभ्यास कराया जाता है। जिससे हम द्वन्द्वों से ऊपर उठ सकें।

भारतीय पद्धति इन सभी से भिन्न है। इसके अनुसार मन को व्यावहारिक सत्य अथवा वासनाओं अर्थात् मानसिक सत्य के अनुरूप रँगने के बदले धीरे-धीरे पारमार्थिक सत्य के अनुरूप रँगना पड़ता है। सभी प्रकार के काल्पनिक, अलीक चिन्तन पर आधारित साहित्य के पठन अथवा अध्ययन का त्याग इसका प्रथम सोपान है। इस तरह के काल्पनिक दिवा स्वप्नों के बदले लौकिक सत्य का चिन्तन श्रेष्ठतर है। लेकिन धीरे-धीरे इसे भी त्यागकर सत्य के साधक को सदा-सर्वदा केवल पारमार्थिक सत्य के चिन्तन में लगे रहना चाहिए। जिससे वह अपने मन को पूरी तरह उससे रंग सके।

मानसिक सत्य-साधन का एक युक्तिसंगत उपाय पातंजलयोगसूत्र में वर्णित है। यम–नियमादि के पालन के विरोधी विचार जब मन में उठे, तो उन्हें दूर करने के लिए प्रतिपक्ष भावना करें। "वितर्क बाधने प्रतिपक्षभावनम्।" हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह तथा अब्रह्मचर्य, वितर्क बाधाएँ हैं। इनकी वृत्तियाँ या विचार अहिंसादि के साधक के मन में उठकर उसकी साधना में विघ्न उपस्थित करती हैं। इन्हें दूर करने के लिए "प्रतिपक्ष भावना" अर्थात् हिंसादि के दुष्परिणामों का चिन्तन करना चाहिए। असत्य बोलने से व्यक्ति के मन में भय का संचार होता है, एक असत्य को छिपाने के लिए दूसरा असत्य बोलना पड़ता है। असत्य के प्रकट होने पर व्यक्ति के प्रति विश्वास नष्ट हो जाता है तथा मित्रता की क्षति एवं शत्रुता की वृद्धि होती है। इस तरह के चिन्तन द्वारा सत्य के प्रति आस्था दृढ़ होती है, तथा मन और मुख एक होता है। इसके साथ ही साथ

भीष्म, हरिश्चन्द्र, राम, युधिष्ठिर आदि महान सत्यव्रती महापुरुषों के जीवन एवं चरित्र का अनुध्यान कर सत्य के प्रति अपनी निष्ठा को दृढ़ करना चाहिए।

सत्य-प्रतिष्ठा

'सत्यमेव जयते' — सत्य की ही जय होती है। इस औपनिषदीय कथन की व्याख्या करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं कि सत्याचरण करने वाले की जय होती है। आपाततः भले ही समाज में असत्यवादी तथा अधर्मियों की विजय होती दिखाई पड़े, लेकिन अन्ततोगत्वा सत्यवादी की ही जय होती है। इतिहास-पुराण के सैकड़ों उपाख्यान इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

पातंजलयोगसूत्र के अनुसार सत्य में प्रतिष्ठित होने पर वाक्य क्रियाफल के आश्रयत्व गुणों से युक्त होता है। "सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्" (२:३६)। ऐसे सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के, 'तुम धार्मिक हो जाओ,' कहने से कहा जाने वाला व्यक्ति धार्मिक हो जाता है। 'तुम स्वर्ग प्राप्त करो', कहने पर व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त करता है। सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के वाक्य अमोघ हो जाते हैं। यह सत्यप्रतिष्ठाजनित फल वस्तुतः प्रबल इच्छाशक्ति का द्योतक है। जिस व्यक्ति ने बारह वर्ष तक मन, वचन एवं शरीर से सत्य का पालन किया हो, जिसके वाक्य तथा चिन्तन सदा यथार्थ विषयक रहे हों, जो अपनी जीवन रक्षा के लिए भी कभी झूठ का आश्रय लेने की बात सोचता तक नहीं, उसमें अमोघ इच्छाशक्ति का विकास होता है। उस व्यक्ति के सरल-सत्य वाक्य का श्रोता के मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है और वह उसे स्वीकार करने तथा तदनुरूप आचरण करने को बाध्य होता है।

यह पूछा जा सकता है कि सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति यदि यह कहे कि 'मिट्टी जल हो जावे', 'सूर्य पश्चिम से उगने लगे,' तो क्या ऐसा होने लगेगा? इसका उत्तर यह है कि जिस व्यक्ति ने कभी असत्य-अलीक का चिन्तन ही न किया हो वह कभी स्वयं के सामर्थ्य के बाहर तथा प्रकृति के नियम के विरुद्ध बोल ही नहीं सकता। ऐसा भी कभी-कभी कहा जाता है कि सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के मुँह से अनजाने में भी जो बात निकलती है, वह सत्य हो जाती है। यह कथन भी सत्य की साधना का रहस्य न समझने के कारण ही है। हम पहले ही देख चुके हैं कि सत्य के साधक को प्रतिक्षण कितना सतर्क होना पड़ता है। जिस व्यक्ति ने बारह वर्ष तक दिन-रात, अत्यन्त सजग एवं प्रमाद रहित रहकर असत्य चिन्तन एवं वचन का त्याग किया हो, क्या वह अनजाने में भी कभी असत्य बोल सकता है? वस्तुतः उसके इस प्रकार के वाक्य उनकी सत्य-अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त भविष्यत् ज्ञान के बहिःप्रकाश मात्र हैं। वरदानों और अभिशापों को भी इसी दृष्टि से देखा जा सकता है। सिद्ध महापुरुष अपनी साधना द्वारा अर्जित अन्तर्दृष्टि की शक्ति से अभिशप्त या अनुकम्पित व्यक्ति के पूर्व कर्मों तथा उनके अवश्यम्भावी परिणामों को जानकर उसी के अनुरूप वचन बोलते हैं, जो कालान्तर में फलीभूत होते हैं।

सत्य द्वारा विजय तथा अर्थफलाश्रयत्व को सत्य-पालन के अवान्तर फलों के रूप में ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि सत्य अपने आप में ही लक्ष्य है। वह साधन और साध्य दोनों ही है। यही कारण है कि श्रीरामकृष्ण धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म आदि सभी माँ जगदम्बा को समर्पित कर सकते थे, किन्तु 'सत्य और असत्य' का समर्पण नहीं कर सके। सत्य तो समस्त सद्गुणों का आधार है।

श्री चैतन्य महाप्रभु (१७)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। —सं.)

चैतन्यदेव की इच्छानुसार गौड़ीय भक्तों के वर्षा का चातुर्मास पुरी में ही बिताना निश्चित हुआ। भक्तगण श्री जगन्नाथ-दर्शन, समुद्र स्नान, महाप्रसाद ग्रहण, भगवच्चर्चा, भजन-कीर्तन और साधना में कालयापन करने लगे। पुरी में नित्य ही आनन्दोत्सव होता रहता है, बारह महीनों में तेरह पर्व मनाये जाते हैं। झूलनोत्सव के उपलक्ष्य में श्री जगन्नाथ के प्रतिनिधि मदनमोहन के विग्रह का मनोहर वेश और अद्भुत सजावट देखकर सभी आनन्दित हुए। जन्माष्टमी भी बड़े धूमधाम के साथ मनायी गयी। इसके परवर्ती दिन पण्डागण नन्द-यशोदा और गोप-गोपिकाओं का वेश धारण कर नन्दोत्सव में मग्न हुए। चैतन्यदेव तथा गौड़ीय भक्तों के भी उसमें सम्मिलित होने से उत्सव खूब जम उठा है यह देखकर महाराज प्रतापरुद्र तथा मन्दिर के प्रधान पण्डा तुलसी पड़िछा ने भी उसमें योग दिया। नृत्य-गीत, रंग-रस और खेल-तमाशों से सारा परिवेश उन्मत्त हो उठा।

अद्वैताचार्य ने विनोदपूर्वक महाप्रभु से कहा, "गोपगण तो बड़े लठियल होते हैं। लाठी का खेल दिखाये बिना ठीक-ठीक ग्वाला नहीं हुआ जा सकता।" आचार्य की

मनोकामना समझकर चैतन्यदेव और नित्यानन्द लाठी लेकर खेलने लगे। तत्वदर्शी, भक्ताग्रणी, प्रेमिक शिरोमणि भावुक संन्यासी का लाठी चलाने में अद्भुत कौशल देखकर उड़ीसावासियों के विस्मय का ठिकाना न रहा।[१] लोग समझ गये कि ये संन्यासीगण जैसे आध्यात्मिक और मानसिक रूप से, वैसे ही शारीरिक रूप से भी शक्तिमान हैं तथा अस्त्र-शस्त्र चलाने में भी सानी नहीं रखते।

जन्माष्टमी के पश्चात् श्रीकृष्ण की बाललीला के आधार पर जगन्नाथजी को विविध प्रकार के वेशों में सज्जित किया जाता है। सज्जाकारी अतीव दक्षतापूर्वक श्री जगन्नाथ के अंग-प्रत्यंग को पोशाक, आभूषण से आवृत्तकर उन्हें विविध प्रकार के वेशों में सजाते हैं। वह अपूर्व लीलामूर्ति देखकर सबका हृदय आनन्द से उत्फुल्ल हो उठता है।

इस प्रकार दिन पर दिन बीतता गया और क्रमशः शारदीय महापूजा का अवसर आ पहुँचा। वैष्णव ग्रन्थकारों ने चैतन्यदेव की जीवनी में पुरी के नवरात्रि उत्सव तथा विमलादेवी की विशेष पूजा का प्रसंग लिपिबद्ध नहीं किया है। 'चैतन्य-चरितामृत' में केवल इतना ही उल्लेख मिलता है—

---

१. उन दिनों बगाल में अस्त्रविद्या की शिक्षा का व्यापक प्रचलन था। आत्मरक्षा के लिए सभी लोग शक्ति अर्जित करते थे। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि चैतन्यदेव और नित्यानन्द दोनों ने ही बचपन में लाठी चलाने की कला सीखी होगी।

विजया दशमी लंका विजयेर दिने।
वानर-सैन्य हय प्रभु लइया भक्तगणे।।[२]

अति प्राचीन काल से ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में नवरात्रि के अवसर पर विशेष समारोह और श्रद्धाभक्ति के साथ महाशक्ति दुर्गादेवी की अर्चना, सप्तशती पाठ तथा होम, बलि इत्यादि की प्रथा चली आ रही है। हिन्दू राजागण अपने राज्य के अभ्युदय तथा अपनी शक्ति में वृद्धि के हेतु इस पर्व पर ब्रह्मशक्ति की विशेष रूप से आराधना करते थे। इस अवसर पर सभी श्रीसम्पन्न लोग यथासाध्य महामाया का पूजन किया करते थे। चैतन्यदेव के काल में भी यह प्रथा काफी प्रचलित थी। क्योंकि उनकी जीवनी-ग्रन्थों में भी तत्कालीन बंगाल के प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति के घर में चण्डीमण्डप होने का उल्लेख[३] मिलता है।

आज भी पुरी में शारदीय उत्सव जिस धूमधाम के साथ सम्पन्न होता है, उससे हम अनुमान कर सकते हैं कि चैतन्यदेव के समय में जब क्षत्रिय राजागण शक्तिशाली थे, तब राजा प्रतापरुद्र के राज्यकाल में पुरी की अधिष्ठात्री देवी 'विमलामाई' की अर्चना न जाने कितने समारोह के साथ सम्पन्न होती होगी। अब भी नवरात्रि के उपलक्ष्य में वहाँ शरद् ऋतु में दश महाविद्याओं में अन्यतम शक्ति विग्रह के रूप में विमलादेवी की प्रायः पन्द्रह दिनों तक अद्‌भुत वेषभूषा तथा बड़े धूमधाम के साथ पूजा व भोगराग

---

२. विजया दशमी के दिन लका-विजय के उपलक्ष्य में महाप्रभु भक्तों को साथ लेकर वानर सेना बने थे।

३. निमाई पण्डित का टोल भी नवद्वीप के एक चण्डीमण्डप में स्थित था।

हुआ करती है। इस समय विमलादेवी के मन्दिर में श्री जगन्नाथ के प्रतिनिधि के रूप में उनका एक लघु विग्रह स्थापित कर दुर्गामाधव के रूप में पूजा जाता है। दशमी के दिन उन्हीं को पालकी में बैठाकर मन्दिर से जगन्नाथवल्लभ नामक उद्यान में स्थित मण्डप में ले जाकर (राम के 'लंकाविजग' का) विजयोत्सव मनाया जाता है। पूरी के समस्त निवासी विमलादेवी के इस पूजनोत्सव में भाग लेकर आनन्द मनाते हैं और दुर्गामाधव की विजययात्रा के साथ-साथ जगन्नाथवल्लभ नामक उद्यान तक जाते हैं। 'चैतन्य-चरितामृत' ग्रंथ में चैतन्यदेव के वानर-सेना सजाने का जो वर्णन हम पाते हैं, वह इसी प्रसंग में है। बंगाल के समान ही उड़ीसावासी भी शारदीय पूजा के उपलक्ष्य में मृण्मयी प्रतिमा का निर्माण करते हैं। बलि की प्रथा भी खूब प्रचलित है। पुरी की ये समस्त पूजा-पद्धतियाँ अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही हैं। यद्यपि परवर्ती काल में राजवंश के शक्तिहीन हो जाने से ऐश्वर्य की छटा तथा तड़क-भड़क में अवश्य ही कमी आ गयी है, तथापि अब भी जो कुछ बचा है वह अतुलनीय है। यदि अत्यन्त प्राचीन काल से ही पुरी में नवरात्रि पूजा उत्सव आदि का प्रचलन न रहा होता तो आधुनिक काल में उसे प्रारंभ कर पाना संभव न होता। इस कारण हमारा अनुमान है कि चैतन्यदेव के समय में भी यह उत्सव बल्कि थोड़े अधिक समारोह के साथ सम्पन्न होता था और बंगाली भक्तगण भी उसमें सम्मिलित होकर आनन्द मनाया करते थे।

इसी प्रसंग में यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि यद्यपि किसी-किसी के मत में चैतन्यदेव शक्ति, उपासना (दुर्गापूजा) के विरोधी थे, परन्तु उनके भ्रमण-वृतान्त में

हम देखते हैं कि वे सर्वत्र विष्णु मन्दिर के समान ही देवी के मन्दिर में भी दर्शन करने गये थे। उनके अनुयायी गौड़ीय वैष्णवों में भी दुर्गापूजा की प्रथा है। अपने धर्म के प्रधान सिद्धान्त के रूप में चैतन्यदेव जो 'ब्रह्मसंहिता' नामक ग्रंथ दक्षिण से जुटाकर लाये थे, उसमें भी दुर्गा माहात्म्य विशेष रूप से कथित हुआ है। पाठकों की जिज्ञासा निवारणार्थ हम यहाँ मूल 'ब्रह्मसंहिता' का वह श्लोक तथा उस पर गौड़ीय वैष्णव दर्शन के एक प्रधान आचार्य श्रीमत् जीवगोस्वामीपाद की व्याख्या का किंचित अंश उद्धृत करते हैं —

सृष्टि-स्थिति- प्रलयसाधनशक्तिरेका
छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।[४]

(ब्रह्मसंहिता ५/४४)

श्रीमत् जीवगोस्वामीकृत ब्रह्मसंहिता-टीका में उद्धृत गौतमीय कल्पवचन—

यः कृष्णः सैवदुर्गास्याद् या दुर्गा कृष्ण एव सः।
अनयोरन्तदर्शी संसारान्नो विमुच्यते।।

अतः स्वयमेव श्रीकृष्णस्वरूप शक्तिरूपेण दुर्गानाम। निरुक्तिश्चात्र 'दुःखेन गुर्वाराधनादि प्रयासेन गम्यते जायते।' तथा च—नारदपंचरात्रे श्रुतिविद्यासंवादे—

---

४. जिनकी सृष्टि-स्थिति-प्रलय साधन करने वाली एकमात्र शक्ति श्रीदुर्गा छाया के समान अनुवर्तिनी होकर सम्पूर्ण भुवनमण्डल को धारण करती हैं और जिनकी इच्छानुसार कार्य करती रहती हैं, उन्ही आदिपुरुष गोविन्द की मैं आराधना करता हूँ।

जानात्येका पराकान्तं सैव दुर्गा तदात्मिका।
या परा परमाशक्तिर्महाविष्णु स्वरूपिणी॥
यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः।
मुहूर्तोदेव देवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा॥
एकेयं प्रेम-सर्वस्वभावाश्रीगोकुलेश्वरी।
अनया सुलभोज्ञेयं आदिदेवोऽखिलेश्वरः॥
भक्तिर्भजन सम्पत्तिर्भजते प्रकृतिः प्रियम्।
ज्ञायतेऽत्यन्तदुःखेन सेयं प्रकृतिरात्मनः॥
दुर्गेति गीयते सर्वैरखण्डरसवल्लभा॥'

व्रज के गोप-गोपी, राधा-कृष्ण सभी शक्ति के उपासक हैं, दुर्गाभक्त हैं। कात्यायनी व्रज की अधिष्ठात्री देवी हैं। द्वारका में भी भद्रकाली दुर्गा ही पीठाधिष्ठात्री हैं। श्रीमद्‌भागवत में भी हम देखते हैं कि धराधाम पर अवतीर्ण होने के पूर्व ही भगवान श्रीकृष्ण सर्वार्थ सिद्धिकर महाशक्ति की आराधना का विधान दे रहे हैं—

अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्।
नानोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम्॥
नामधेनयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च।
माया नारायणीशानी शारदेत्येम्बिकेति च॥

(भागवत् १०/२/१०-१२)

५.भावार्थ—'हे सर्व कामनाओं को पूर्ण करनेवाली, मनुष्यगण अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए सर्वदा धूप, उपहार और बलि आदि उपचारों से तुम्हारी पूजा करते रहेंगे। लोग तुम्हें दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्या, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा, अम्बिका आदि नामों से पुकारते हुए, पृथ्वी पर तुम्हारे लिए बहुत से स्थान बनायेंगे।

दीपान्विता अमावस्या के दिन भी विमलादेवी के मन्दिर में विशेष समारोह के साथ श्यामा-माँ की अर्चना हुआ करती है। नवद्वीप निवासियों को श्यामा पूजा से बड़ा लगाव है, क्योंकि वे नवद्वीप की अधिष्ठात्री देवी हैं। वहाँ माँ का स्थान[६] अब भी विशेष जाग्रत है और सभी माँ के अनुगत हैं। गोस्वामी लोगों के घर में भी वहाँ सर्वदा माँ के लिए भेंट-पूजा आती रहती है।

कार्तिक मास में श्री जगन्नाथ की दामोदर वेश में विशेष विधि के अनुसार अर्चना और भोग-राग हुआ करती है। कार्तिक पूर्णिमा की रासलीला भक्तों के लिए विशेष आनन्द का अवसर है। भक्तों के साथ चैतन्यदेव ने इन सब पर्वों से सम्बन्धित उत्सवों का बड़े आनन्दपूर्वक उपभोग किया था।

रासपूर्णिमा के दिन चातुर्मास पूर्ण हुआ। नित्यानन्द के साथ सलाह करने के बाद चैतन्यदेव गौड़ीय भक्तों से अपने गाँव लौटने का अनुरोध करते हुए बोले, "आप सभी अब घर जाकर अपने अपने कर्तव्य का पालन करें और सद्भावपूर्वक जीवनयापन करते हुए भगवान का नाम लेते रहें, यही मेरी हार्दिक आकांक्षा है। प्रतिवर्ष रथयात्रा के समय श्री जगन्नाथदेव का दर्शन करने हेतु आपके आने पर मुझे बड़ा ही आनन्द होगा।"

प्रस्थान का दिन निश्चित हुआ। भक्तगण नेत्रों के जल से वक्षस्थल भिगोते हुए विदा लेने को आये। चैतन्यदेव भी अपने अश्रु रोक नहीं सके। फिर पुरी के भक्तों के समक्ष

---

६ नवद्वीप के जाग्रत शक्तिपीठ के रूप में सर्वमान्य—
'पोड़ा-माँ-तला'।

गौड़ीय भक्तों की महिमा का वर्णन करते हुए वे एक-एक को क्रमशः प्रेमालिंगन देते हुए मधुर वाणी में विदाई देने लगे। आचार्य को उन्होंने सम्मानपूर्वक आदेश दिया कि वे चाण्डालादि तक को कृष्ण भक्ति का दान करते रहें। फिर सर्वदा संग रहकर अग्रज के समान रक्षण करने वाले नित्यानन्द को गौड़ देश में जाकर भक्तिधर्म का प्रचार करने को कहने के उपरान्त बोले, "इसमें तुम्हारी सहायता के लिए रामदास, गदाधरदास आदि को मैं तुम्हारे साथ देता हूँ। बीच-बीच में भी मैं भी तुम्हारे पास आऊँगा और अदृश्य रहकर तुम्हारा नृत्य देखूँगा।" श्रीवास पण्डित का भी गला पकड़कर उन्होंने आलिंगन किया और उनके हाथ में अपनी माता के लिए महाप्रसाद और एक प्रसादी वस्त्र सौंप दिया। श्री जगन्नाथ का यह प्रसादी वस्त्र जन्माष्टमी के बाद वाले दिन नन्दोत्सव के अवसर राजा की इच्छानुसार मन्दिर के प्रधान पुजारी ने लाकर उन्हें दिया था। तदुपरान्त प्रभु श्रीवास पण्डित से मधुरवाणी में कहने लगे, "मैं तुम्हारे घर के कीर्तन में प्रतिदिन नृत्य करूँगा। उस समय तुम्हें छोड़कर मुझे और कोई भी न देख सकेगा। यह वस्त्र और प्रसाद मेरी माताजी को देना और दण्डवत करके मेरे अपराधों के लिए क्षमा माँग लेना।"

राघव पण्डित का आलिंगन कर उनकी प्रशंसा करते हुए चैतन्यदेव भक्तों से बोले, "आप सभी इनकी कृष्ण सेवा का वृत्तान्त मुझसे सुनें। यह परम पवित्र सेवा ये अत्युत्तम ढंग से करते हैं, बहुत सी चीजें छोड़कर इनका एक नारियल भोग देने का ही उदाहरण कहता हूँ। यहाँ पर पाँच गण्डों (वर्तमान लगभग आठ पैसे) में एक नारियल बिकता है। यद्यपि उनके अपने उद्यान में सैकड़ों वृक्षों पर लाखों फल

लगे रहते हैं तथापि जहाँ कहीं मीठे नारियल की बात सुनने में आती है, वह स्थान यदि दस कोस दूर हुआ तो भी वे प्रति फल के लिए चार आने (पच्चीस पैसे) देकर वहीं से नारियल मँगवाते हैं। प्रतिदिन वे पाँच-छह फल की जटा निकलवा कर उसे शीतल करने के लिए जल में डुबाकर रख देते हैं। फिर भोग के समय उसे पुनः छिलकर, उसके मुख में छिद्र करके श्रीकृष्ण को अर्पित करते हैं।...इसी प्रकार की ये अनुपम प्रेमपूर्ण सेवा करते हैं, जिसे देखकर सभी के नेत्र धन्य हो जाते हैं।"

तत्पश्चात् जिन्होंने गौड़ीय भक्तों के पुरी आते समय यात्रापथ की सभी विषयों की सुव्यवस्था सँभाली थी, उन्हीं विशाल-हृदय कायस्थ कुलतिलक जमींदार शिवानन्द सेन से वे ससम्मान बोले, "तुम वासुदेव दत्त की थोड़ी देखभाल करते रहना। वे इतने उदार हैं कि जिस दिन जो भी आय हो जाती है, उसी दिन खर्च कर डालते हैं। कुछ बचाकर नहीं रखते। परन्तु गृहस्थ को संचय करना चाहिए, अन्यथा अपने कुटुम्ब के लोगों का भरण-पोषण नहीं किया जा सकता। इनके घर का आय-व्यय सब तुम्हारे जिम्मे रहा। प्रमुख होने के नाते तुम उसकी भी व्यवस्था देखना। प्रति वर्ष तुम मेरे सभी भक्तों को साथ लेकर उनकी देखभाल करते हुए गुण्डिचा उद्यान में आना।"

फिर वे कुलीनग्राम के निवासी भक्तों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए बोले, "तुम लोग प्रति वर्ष यात्रा की पट्टडोरी लेकर आना।" कुलीनग्राम के भक्तश्रेष्ठ सत्यराज खान ने विदा लेने के पूर्व पूछा, "मैं तो विषयी गृहस्थ हूँ। आपके चरणों में निवेदन है कि आप अपने श्रीमुख से मेरे लिए साधना का निर्देश करें।" प्रभु ने कहा, "सर्वदा कृष्ण

सेवा, वैष्णव सेवा और कृष्णनाम का संकीर्तन करते रहना।" सत्यराज ने पूछा, "वैष्णव को पहचानूँगा कैसे? वैष्णव के सामान्य लक्षण मुझे बता दीजिए।" प्रभु ने कहा, "जो एक बार भी कृष्णनाम लेता है वही सर्वश्रेष्ठ और सबका पूज्य है। कृष्ण का नाम समस्त पापों का क्षय कर देता है और इसी से विविध प्रकार के भक्ति भावों का उदय होता है। इसमें दीक्षा अथवा पुरश्चरण आदि की अपेक्षा नहीं है, बस जिह्वा से स्पर्श होते ही यह आचाण्डाल सभी का उद्धार कर देता है। इसके साथ ही कृष्ण का नाम संसारासक्ति का क्षय कर देता है और चित्त को कृष्ण-प्रेम की ओर आकृष्ट कर लेता है। अतएव जो कृष्ण का नाम लेता है वही सच्चा वैष्णव है और उसी का सम्मान करना चाहिए।"

श्रीखण्ड के भक्त मुकुन्ददास, रघुनन्दन और नरहरि[७] के विदा लेने आने पर, चैतन्यदेव ने भक्तों के समक्ष उनके प्रेमभक्ति की प्रशंसा करके मुकुन्द का विशेष परिचय देते हुए कहा, "ये राजवैद्य हैं, मुसलमान राजा के चिकित्सक हैं। एक बार ये मंच पर बादशाह के पास उच्च आसन पर बैठे हुए चिकित्सा के बारे में वार्तालाप कर रहे थे, उसी समय एक सेवक आया और बादशाह के सिर पर मयूरपुच्छ के पंखे से हवा करने लगा। सहसा इनके मन में श्रीकृष्ण की उद्दीपना हो आयी। भाव में विह्वल होकर ये बाह्यज्ञानरहित होकर आसन से नीचे लुढ़क पड़े। बादशाह घबड़ाकर उनकी सेवा-सुश्रूषा में लग गये। थोड़ी देर बाद इनकी देह में संज्ञा लौट

७. रघुनन्दन मुकुन्ददास सरकार के पुत्र और नरहरि उनके कनिष्ठ भ्राता थे।

आने पर बादशाह ने पूछा, "मुकुन्द, तुम किस कारण गिर पड़े?" इन्होंने उत्तर दिया, "मुझे मृगी का रोग है।" तीनों के प्रति स्नेह-प्रीति प्रदर्शित करने के बाद विदा देते समय उन्होंने पुनः मुकुन्द के प्रति मधुर वाणी में कहा, "तुम्हारा कार्य है धन-धर्म का उपार्जन और रघुनन्दन का कार्य है श्रीकृष्ण की सेवा। श्रीकृष्ण की सेवा के अतिरिक्त इनके मन में और कोई कामना नहीं है। नरहरि सर्वदा मेरे भक्तों के साथ रहेगा। तुम तीनों जन सर्वदा ये तीन कार्य करते रहना।"

तदुपरान्त वे सार्वभौम और विद्यावाचस्पति नामक दो भाइयों को कृपापूर्वक सम्बोधित करते हुए बोले, "इस समय श्रीकृष्ण काष्ट और जल के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। उनका दर्शन और उनमें स्नान करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। 'दारुब्रह्म' के रूप में श्री जगन्नाथ विराजित हैं और भागीरथी गंगा साक्षात् 'जलब्रह्म' के समान हैं। सार्वभौम 'दारुब्रह्म' की आराधना करें और वाचस्पति 'जलब्रह्म' का सेवन करें।"

इसके पश्चात् वे मुरारी गुप्त का प्रेमालिंगन करते हुए भक्तों के समक्ष उनकी इष्टनिष्ठा की प्रशंसा करके बोले, "पूर्वकाल में एक बार मैंने गुप्त के रागभक्ति की परीक्षा करने के लिए उसके सामने श्रीकृष्ण के रूप, गुण और माधुर्य की महत्ता बताते हुए राम को छोड़कर कृष्ण की उपासना करने को कहा था। श्री रामचन्द्र के परम भक्त ये मेरे अनुरोध की उपेक्षा न कर सके और आखिरकार एक दिन घर जाकर रघुनाथ को छोड़ने का विचार मन में आते ही गुप्त का चित्त व्याकुल हो उठा। सारी रात इन्हें नींद नहीं आयी। रोते हुए रात बिताकर सुबह होते ही ये मेरे पास

आकर मुस्कते हुए बोले, 'मैं अपना सिर रघुनाथ के चरणों में बेच चुका हूँ। अब मैं उसे वापस नहीं ले सकता, इस कारण मन में बड़ी व्यथा हो रही है। एक ओर तो रघुनाथ के चरण छूटते नहीं और दूसरी ओर तुम्हारी आज्ञा का उल्लघन हो रहा है। अब मैं क्या उपाय करूँ? तो भी हे दयामय इतनी कृपा करो कि तुम्हारे सामने ही मेरी मृत्यु हो जाय ताकि मेरा द्वन्द्व छूट जाय।' यह सुनकर मेरे मन में अतीव सुख हुआ और इन्हें उठाकर आलिगन करते हुए मैं बोला, 'साधु, साधु, गुप्त! तुम्हारी निष्ठा सुदृढ़ है। मेरे कहने पर भी तुम्हारा मन विचलित नहीं हुआ। प्रभु के चरणों में सेवक की ऐसी ही प्रीति होनी चाहिए कि प्रभु भी यदि छुड़ाना चाहें तो वह न छोड़ें।"

वासुदेव दत्त को विदा करते समय प्रभु उन्हें प्रेमालिगन देकर उनके भावभक्ति की भूरि-भूरि प्रशसा करने लगे। अपनी प्रशसा सुनकर विनयी दत्त को बड़ा संकोच लगा। वे चैतन्यदेव के चरणों में गिर पड़े और अत्यन्त कातरतापूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे, "जीवों का दुःख देखकर मेरा हृदय विदीर्ण हो जाता है सभी का पाप आप मेरे ही सिर पर दे दें, ताकि मैं उसे लेकर नरक-भोग करूँ और बाकी सभी जीवों का भवरोग दूर हो जाय।"

वासुदेव की प्रार्थना सुनकर सब लोक स्तम्भित रह गये। चैतन्यदेव का हृदय विगलित हो उठा और आँखों में अश्रु भरे गद्‌गद् कण्ठ से वासुदेव के महान् हृदय की प्रशसा करने के पश्चात् वे बोले, "कृष्ण का एकमात्र कार्य है अपने सेवकों की आकाक्षा को पूर्ण करना। तुमने ब्रह्माण्ड के जीवों की मुक्ति-कामना की है और (तुम्हारे द्वारा) पाप भोग किए बिना ही सबका उद्धार हो जाएगा।"

एक-एक कर सभी भक्तों ने विदा ली और नियत समय पर एक साथ अपने प्रदेश की ओर चल पड़े। परन्तु चैतन्यदेव के बाल्यबन्धु और प्रिय अन्तरंग गदाधर पण्डित बंगाल नहीं लौटे। गदाधर बाल-ब्रह्मचारी थे। वे संसार त्यागकर चैतन्यदेव के संग की अभिलाषा लिए पुरी में ही रह गये। हरिदास भी नहीं लौटे।

(क्रमशः)

सच्चा प्रेम

मनिमय गुप्त, नागपुर

धूप स्वयं को राख बनाकर
देती है सुगन्ध औरों को।
झर जाते हैं पुष्प विटप के
दे कर अपना मधु भौरों को।।
दीपक अपना स्नेह जलाकर
जग में उजियारा फैलाता।
प्रेम वही जो देता प्रति पल-
रखता नहीं कभी प्रत्याशा।।

स्वामी विवेकानंद के दर्शन की प्रासंगिकता

स्वामी आत्मानंद

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्वामी विवेकानंद के दर्शन के प्रभाव की विवेचना करते हुए मार्च १९४९ में कहा था, "पता नहीं कि आज की पीढ़ी में से कितने लोग स्वामी विवेकानंद के व्याख्यानों और लेखों को पढ़ते हैं, पर मैं यह कह सकता हूँ कि मेरी पीढ़ी के बहुत से लोगों पर उनका बहुत सशक्त प्रभाव पड़ा था।...यदि आज स्वामी विवेकानंद की रचनाओं और व्याख्यानों को पढ़ें, तो आप यह विचित्र बात पाएँगे कि वे पुराने नहीं हैं। उनका कथन यद्यपि ५६ वर्ष पहले हुआ था, पर वे आज भी ताजा हैं, क्योंकि उन्होंने जिन विषयों पर लिखा या कहा, वे हमारी समस्याओं अथवा विश्व की समस्याओं के मूलभूत पहलुओं से संबंधित हैं।... अतः स्वामीजी ने जो कुछ लिखा या कहा, वह हमारे हित में है और वह आने वाले लंबे समय तक हमें प्रभावित करता रहेगा।"

भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरि ने कन्याकुमारी के विवेकानंद शिला स्मारक का उद्‌घाटन करते हुए कहा था, "एक शब्द में यदि स्वामीजी के दर्शन को व्यक्त किया जाए, तो वह होगा 'मानवतावाद', जिसमें संसार के सभी धर्मों को आत्मसात् कर लिया गया है। उन्होंने इस सिद्धांत का प्रचार किया और व्यक्ति के स्वार्थ -शून्य बनने पर बल दिया। उन्होंने इस पर जोर दिया कि हर व्यक्ति को चरित्र, ईमानदारी और सच्चाई में प्रतिष्ठित होना चाहिए तथा निःस्वार्थ सेवा का कार्य करना चाहिए। उन्होंने यह उचित बात कही कि मुख्य कार्य है व्यक्तिगत

चरित्र का विकास करना और यदि व्यक्तिगत चरित्र विकसित हो गया तो समूचे राष्ट्र का चरित्र स्वाभाविक रूप से गठित हो जाएगा।''

श्री गिरि ने स्वामीजी के दर्शन का विवेचन करते हुए आगे कहा, ''स्वामी विवेकानंद की देन हमारे देश में केवल धार्मिक जागरण अथवा सांस्कृतिक पुनरुत्थान तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उसने अधिक रूप से लोगों के देखने और समझने के तरीके में आमूल परिवर्तन उपस्थित किया। इस दृष्टि से शंकराचार्य के बाद उनका ही स्थान आता है। उनके व्यक्तित्व में दार्शनिक, सत, देशभक्त, विचारक और सुधारक के अनेक आयाम समाहित थे...। वे केवल 'परलोक' का ताना-बाना बुनने वाले एक अकर्मण्य दार्शनिक नहीं थे अथवा ऐसे संत भी नहीं थे, जो कर्मों के त्याग और आत्मा के चितन पर जोर देते हैं, वे तो जनता की आशा-आकाक्षा के प्रति सजग थे और उनकी समस्याओं से गहरे रूप से संबधित थे। वे धर्म को व्यावहारिक रूप देने की अथक चेष्टा करते रहे, जिससे एक साधारण व्यक्ति भी धर्म के अर्थ को और आज के संदर्भ में उसके महत्व को समझ ले। स्वामी विवेकानद के संदेश को दो ही शब्दों में निचोड़ा जा सकता है: 'मनुष्य बनो', जैसा कि उन्होंने बताया उनका धर्म 'मनुष्य बनाने वाला धर्म' था।''

वास्तव में स्वामीजी का दर्शन मानव की सेवा का, दर्शन था। उन्हें मानव सबसे प्रिय था, क्योंकि उनकी दृष्टि में 'मानव-शरीर में मानव की आत्मा ही एकमात्र उपास्य देवता' थी। वे यह स्वीकार करते थे कि हर प्राणी का शरीर एक मदिर है, पर मानव शरीर को वे सबसे उत्कृष्ट मदिर मानते थे और उनका विचार था कि यदि

मानव-शरीर रूपी मदिर में भगवान की उपासना न हो सकी तो और दूसरे मंदिर किसी काम के न थे। तभी तो उन्होंने अपनी अमृतमयी वाणी से कहा था, "प्रत्येक नर और नारी को, हर व्यक्ति को नारायण की दृष्टि से देखो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, मात्र सेवा करने का अधिकार तुम्हारा है। अतएव ईश्वर की संतानों की सेवा करो, यदि सौभाग्य मिले तो साक्षात् नारायण की सेवा करो। यदि ईश्वर के अनुग्रह से तुम उनकी किसी संतान के काम आ सके तो तुम धन्य हो।...उसे पूजा की दृष्टि से करो। निर्धन और पीड़ित तो हमारी मुक्ति के साधन हैं, ताकि हम रोगी के रूप में, पागल के रूप में, कोढ़ी के रूप में आने वाले नारायण की सेवा कर सकें।"

वैसे तो स्वामीजी के लिए प्राणिमात्र ही नारायण का रूप था, तथापि 'भूखे-नंगे नारायण', उत्पीड़ित और दलित नारायण' उनके विशेष सेव्य थे। उन लोगों की सेवा के सामने निर्विकल्प समाधि का ब्रह्म-साक्षात्कार और ब्रह्मानंद स्वामीजी के लिए गौण था। तभी तो अपने मानवतावाद के दर्शन की विवेचना करते हुए वे भारतवासियों से कहते हैं, "जाओ, जाजो, तुम सब लोग वहाँ जाओ, जहाँ प्लेग फैला हो, जहाँ दुर्भिक्ष काले बादल की भाँति छा गया हो, जहाँ लोग दुःख-कष्ट के भार से पीड़ित हों और जाकर उनका दुःख हल्का करो।" वे पुनः कहते हैं, "ऐ नवयुवको! मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और अथक प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें सौंपता हूँ। जाओ, इसी क्षण जाओ उस पार्थसारथी के मंदिर में, जो गोकुल के दीन-दरिद्र ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्ध-अवतार में

अमीरों का न्यौता अस्वीकार कर एक वारांगना का न्यौता स्वीकार किया और उसे उबारा; जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने जीवन की बलि दो — उन दीन, पतित और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान युग-युग में अवतार लिया करते हैं और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं।"

स्वामी विवेकानद की हृत्तत्री के तार भूखी, नंगी, अशिक्षित जनता की बेबसी के रागों में बँधे हुए थे। चहुँ ओर व्याप्त दरिद्रता का नग्न आर्तनाद उन तारों को झनझना देता और स्वामीजी को प्रतीत होता, मानों कोई उनके हृदय को निचोड़े डाल रहा है। तभी तो उन्होंने अपने धर्म की एक नवीन ही व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा था, "मैं उस धर्म में विश्वास नहीं करता, जो विधवा के आँसू पोंछने में समर्थ नहीं है। मैं उस धर्म का विश्वासी नहीं हूँ, जो अनाथ बालक के करुण रुदन को चुप नहीं करा सकता।" उन्होंने अपनी इस व्याख्या के द्वारा मानव धर्म का पथ प्रशस्त किया है। वे तो कहते हैं, "यदि हम अपनी प्रार्थना में कहें कि भगवान ही हम सबके पिता हैं और अपने दैनिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई न समझें, जो फिर उसकी सार्थकता ही क्या?"

स्वामीजी मानव धर्म का पाठ पढ़ाते हुए कहते हैं, "जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे पहले उनकी संतानों की, इस संसार के सारे जीवों की सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में कहा है कि जो भगवान के सेवकों की सेवा करते हैं, वे भगवान के सबसे बड़े सेवक हैं। निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है, जिसमें इस निःस्वार्थता की मात्रा अधिक है, वह

अधिक आध्यात्मिकता-संपन्न है और शिव के अधिक निकट है। और यदि कोई स्वार्थी है तो फिर चाहे उसने सारे मंदिरों के ही दर्शन क्यों न किए हों, सारे तीर्थों में ही क्यों न घूमा हो, अपने को चीते के समान क्यों न रँग डाला हो, परंतु फिर भी वह शिव से बहुत दूर है।''

अतएव, स्वामीजी की दृष्टि में, सभी उपासना का सार है — पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना। उनके मतानुसार, ''जो शिव को दीन-हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है, और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है, उसकी उपासना केवल प्रारंभिक है। जो मनुष्य शिव को केवल मंदिरों में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं, जिसने बिना किसी प्रकार जाति, धर्म या संप्रदाय का विचार किए, एक दीन-हीन में शिव को देखते हुए उसकी सेवा और सहायता की है।''

यह स्वामीजी का सेवा का दर्शन था, जिसके सामने उनके लिए मुक्ति भी तुच्छ थी। तभी तो उनके मुख से शब्द फूट पड़े थे, ''मैं पुनः-पुनः जन्म धारण करूँ और हजारों मुसीबतें सहता रहूँ, जिससे मैं उस परमात्मा को पूज सकूँ, जो सदा ही वर्तमान है, जिस अकेले में मैं सर्वदा विश्वास रखता हूँ, जो समस्त जीवों का समष्टिस्वरूप है और जो दुष्टों के रूप में, पीड़ितों के रूप में तथा सब जातियों, सब वर्गों के गरीबों के रूप में प्रकट हुआ है। वही मेरा विशेष आराध्य है।''

स्वामीजी का दर्शन मनुष्य की अपरिवर्तनशील आत्मा पर खड़ा था, जिसमें धर्म और संप्रदाय का कोई तग दायरा

नहीं होता। मानव समूह को विभाजित करने वाली धर्मांधता स्वामीजी की दृष्टि में एक रोग थी और वे किसी भी उपाय से इस रोग को दूर करना चाहते थे। उन्होंने अपने गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव को समस्त धर्मों के जीते-जागते विग्रह के रूप में देखा था, जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभासंपन्न मेधा से न केवल भारतवर्ष के, वरन् भारतेत्तर देशों के भी समस्त विरोधी मत-मतांतरों में समन्वय स्थापित कर एक अद्भुत सार्वभौम धर्म का आविष्कार किया था। स्वामीजी इस सार्वभौम धर्म के मूल तत्वों का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार चाहते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि श्ररिामकृष्ण के जीवन में रूपायित इस मानव धर्म के द्वारा विश्व के भिन्न-भिन्न धर्मानुयायी व्यक्तियों को एक सूत्र में ग्रथित करना संभव हो सकेगा। स्वामीजी की इस भावना की पुष्टि हमें विश्वविख्यात इतिहास-लेखक डॉ. टॉयनबी के शब्दों में मिलती है, जो उन्होंने लंदन में दिए गए अपने एक व्याख्यान में कहे थे। श्री रामकृष्ण के संदेश की विशेषता और महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा था, "The harmony of religions, preached by Sri Ramarishna,is unique gift to the world and it would be conducive to the establishment of a new world-culture based on tolerance and universal brotherhood"— अर्थात "श्रीरामकृष्णदेव द्वारा प्रचारित सर्वधर्म-समन्वय संसार को एक अमूल्य देन है और इसकी सहायता से एक नई विश्व-संस्कृति का निर्माण होगा, जिसका आधार होगा सहिष्णुता और विश्व-बंधुत्व।"

तो, स्वामी विवेकानंद का दर्शन उनके गुरु द्वारा जिये गये एवं प्रतिपादित हुए सर्वधर्म-समभाव की चट्टानी नींव

पर खड़ा था। आज के घोर सांप्रदायिकता और धर्माधता के शिकार हुए युग में उनका यह दर्शन कितना प्रासंगिक है, यह बतलाने की आवश्यकता न होगी। स्वामीजी का दर्शन हममें एक ओर निःस्वार्थ सेवा के लिए जहाँ प्रेरणा भरता है, वहीं दूसरी ओर धर्मों और संप्रदायों के पारस्परिक कलह के बीच शांति और समन्वय का मंजुल संदेश सुनाता है। फिर वह राष्ट्र- देवता के चरणों पर आत्मसमर्पण का भी पाठ पढ़ाता है। इस संदर्भ में उनकी एक विचारोत्तेजक वाणी उद्धृत करते हुए मैं अपनी वार्ता का समापन करूँगा। उन्होंने सन् १८९७ में कहा था, "आगामी पचास वर्षों के लिए हमारा केवल एक ही विचार केंद्र होगा — और वह है हमारी महान् मातृभूमि भारत। दूसरे सब व्यर्थ के देवताओं को उस समय तक के लिए हमारे मन से लुप्त हो जाने दो। हमारा राष्ट्रस्वरूप केवल यही एक देवता है, जो जाग रहा है, जिसके हर जगह हाथ हैं, हर जगह पैर हैं, हर जगह कान हैं — जो सब वस्तुओं में व्याप्त है। दूसरे सब देवता सो रहे हैं। हम क्यों इन व्यर्थ के देवताओं के पीछे दौड़ें और उस देवता की — उस विराट् की पूजा न करें, जिसे हम अपने चारों ओर देख रहे हैं?" क्या उनकी यह वाणी आज भी हमारा आह्वान नहीं कर रही है?

श्रीरामकृष्ण और उच्च-शिक्षा

स्वामी विदेहात्मानंद

ईसा के जन्म के सहस्त्रों वर्ष पूर्व वैदिक काल से ही भारतवर्ष में लौकिक एवं पारमार्थिक अनेकविध विधाओं का प्रस्फुटन होता रहा है। उस सुदूर प्राचीनकाल में शिक्षा के केंद्र नागरिक कोलाहल एवं चाकचिक्य से दूर वनों-पर्वतों तथा तीर्थक्षेत्रों में विकसित हुआ करते थे, जहाँ समाज के सभी श्रेणी के विद्यार्थी सादगी एवं त्याग-तपस्या के परिवेश में, आचार्यों के प्रति श्रद्धा एवं सेवा का भाव रखते हुए अपने जीवन के पच्चीसवें वर्ष तक सभी प्रकार की शिक्षा का अर्जन करते थे। इन शिक्षा संस्थानों को गुरुकुल अथवा आश्रम की सज्ञा दी जाती थी। ज्ञान को इतना पुनीत माना जाता था कि इसका केवल दान के रूप में ही आदान-प्रदान किया जाता था। उपनिषदों, रामायण, महाभारत तथा पुराणों में हम ऐसे अनेक विद्यापीठों का उल्लेख पाते हैं। फिर बौद्ध युग में तो विद्या का और भी उत्कर्ष हुआ। नालंदा और तक्षशिला में तो पूरे एशिया के दूर-दूर के देशों के विद्यार्थी भी अध्ययनार्थ आया करते थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण में कांचीपुरम, गुजरात में वल्लभी, बिहार में विक्रमशीला एवं अवतपुरी तथा बगाल में नवद्वीप भारतीय विद्या के प्राचीन केंद्रों के रूप में विख्यात रहे हैं।

लगभग एक हजार वर्ष पूर्व भारतीय सभ्यता और संस्कृति की अवनति होने लगी और हिंदू समाज इतना क्षीण हो गया कि वह मुट्ठी भर विदेशी आक्रांताओं के आक्रमण का भी सामना नहीं कर सका और आगामी कुछ शताब्दियों में विस्तारोन्मुख इस्लामी साम्राज्य ने भारतीय उच्च-शिक्षा प्रणाली को पूर्णत: विध्वस्त कर दिया। मुसलमान शासकों ने

अपनी संस्कृति एवं शिक्षा के विस्तार हेतु इलाहाबाद, अजमेर, बिदर, दिल्ली, जौनपुर, लाहौर, लखनऊ और रामपुर आदि स्थानों में मदरसों की स्थापना की, जहाँ अरबी एवं फारसी को ही शिक्षा का माध्यम बनाया गया। भारत की परम्परागत शिक्षा का क्षेत्र संकुचित होता गया और बहुत सी विद्याओं का पूर्णतः लोप हो गया।

१८ वीं शताब्दी से भारत में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ने लगा और ज्यों-ज्यों भारत में उनका साम्राज्य पाँव पसारता गया, त्यों-त्यों शासकवर्ग स्थानीय लोगों को शिक्षित करने की आवश्यकता महसूस करने लगे। इस दिशा में छिटपुट प्रयास होते रहे, परंतु भारत में पाश्चात्य उच्च शिक्षा की प्रणाली को व्यापक स्तर पर प्रारंभ करने का श्रेय लॉर्ड मैकाले को दिया जाता है। लॉर्ड मैकाले १८३४ ई. में गवर्नर- जनरल के सर्वोच्च कौंसिल के 'लॉ मेम्बर' के रूप में भारत आए। उन दिनों सरकार में विवाद छिड़ा हुआ था कि शिक्षा का माध्यम संस्कृत, अरबी और फारसी ही रखा जाए अथवा उनकी जगह अंग्रेजी को तरजीह दी जाए। मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा के जोरदार समर्थन में एक मसविदा (Minute) तैयार किया और ७ मार्च १८३५ ई. को सरकार ने उसे स्वीकार कर लिया। इसके फलस्वरूप भारत की शिक्षा संबंधी नीति में एक बड़ा ही क्रांतिकारी परिवर्तन आया। मैकाले ने अपने उस मसविदे में प्राच्य भाषाओं एवं संस्कृति की कठोर आलोचना करते हुए, अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया था — "We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom We goven — a class of

persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect,"[1] इस नवीन शिक्षा प्रणाली के आधार पर सरकार ने १८३६ ई. में पहले तो हुगली में और तदुपरांत ढाका और पटना में कॉलेजों की स्थापनी की। उसी वर्ष के आखिर में १२ अक्टूबर १८३६ ई. को मैकाले ने कलकत्ते से अपने पिता को एक पत्र में लिखा था —"हमारे अंग्रेजी स्कूल अद्‌भुत रूप से उन्नति कर रहे हैं। शिक्षा पाने के इच्छुक सभी छात्रों को पढ़ाने की व्यवस्था कर पाना बड़ा कठिन हो रहा है, और कहीं-कहीं तो असंभव भी हो उठा है। एक हुगली के स्कूल में ही कुल चौदह सौ लड़के अंग्रेजी सीख रहे हैं और हिंदुओं पर इस शिक्षा का प्रभाव बड़ा ही विलक्षण होता है। अंग्रेजी शिक्षा पाने के बाद कोई भी हिंदू अपने धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा नहीं रख पाता। यद्यपि उनमें से कुछ इसे (हिंदू धर्म) नीति की दृष्टि से मानते हैं, पर बहुत से अपने को पूर्णत: अज्ञेयवादी मानते हैं और कुछ तो ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा योजनाएँ जारी रखी गईं तो अब से तीस वर्ष बाद बंगाल के संभ्रांत वर्गों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं दृष्टिगोचर होगा और यह सब केवल ज्ञान एवं चिंतन के स्वाभाविक प्रक्रिया से संपन्न हो जाएगा; इसके लिए न तो हमें धर्मांतरण की कोई चेष्टा करनी होगी और न ही

---

१ इस समय तो हमारा सर्वोच्च कर्त्तव्य एक ऐसा वर्ग तैयार करना है, जो हमारे तथा हमारे द्वारा शासित करोड़ों भारतवासियों के बीच सम्पर्क सूत्र का कार्य करेंगे। यह एक ऐसे लोगों का वर्ग होगा जो केवल रक्त एवं वर्ण से भारतीय, पर रुचि, भाषा तथा आचार-विचार आदि की दृष्टि से अंग्रेज होगा।

उनके धार्मिक स्वाधीनता में थोड़ा भी हस्तक्षेप करना होगा। मुझे इन संभावनाओं पर हार्दिक आनंद की अनुभूति होती है।" आगामी ५०-६० वर्षों के इतिहास के घटनाक्रमों का अध्ययन करके हम लॉर्ड मैकाले की दूरदृष्टि की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। परन्तु –

मनुष्य सोचता कुछ है और नियति को कुछ और ही मंज़ूर होता है। १८३६ ई. में लॉर्ड मैकाले द्वारा प्रवर्तित आधुनिक शिक्षा देने के निमित्त बंगाल के हुगली नामक स्थान में पहला कॉलेज खुला और उसी वर्ष उसी जिले के कामारपुकुर नामक एक लघु ग्राम में १७ फरवरी को एक ऐसे शिशु ने जन्म लिया, जिसने उक्त शिक्षा प्रणाली के विनाशकारी प्रभाव से भारत को उबार लिया। बाद में श्रीरामकृष्ण परमहंस के रूप में सुविख्यात होने वाले बालक गदाधर की प्रारंभ से ही सत्य एवं धर्म में निष्ठा थी; रामायण, भागवत तथा पौराणिक कथाओं एवं भजन आदि की तरफ़ रूझान थी और बचपन से ही उसे कुछ अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ भी होने लगी थीं। "मैं पेट भरने वाली विद्या प्राप्त करना नहीं चाहता"—कहकर उसने स्कूल जाने से साफ इंकार कर दिया था, फलतः वह आजीवन निरक्षर भट्टाचार्य ही रह गया। कलकत्ता उन दिनों ब्रिटिश भारत की राजधानी थी, जहाँ उनके बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्याय ने एक छोटी सी संस्कृत पाठशाला खोल रखी थी, इसके अतिरिक्त कुछ संपन्न परिवारों में पूजा-पाठ करके वे अपनी आजीविका चला लेते थे। अपने साथ रखने से गदाधर की थोड़ी शिक्षा भी हो जाएगी और मेरे काम में भी सहायता मिल जाएगी, ऐसा सोचकर वे अपने अनुज को कलकत्ते ले आए। उन्हीं दिनों कलकत्ते के समीप ही

दक्षिणेश्वर नामक स्थान में गंगा तट पर रानी रासमणि ने एक विशाल देवालय बनवाया, जिसमें भवतारिणी काली, राधाकांत श्रीकृष्ण तथा बारह शिव के मंदिर निर्मित हुए। एक युवक के रूप में गदाधर (श्रीरामकृष्ण) यहीं काली मंदिर के पुजारी नियुक्त होकर रहने लगे। जगदम्बा की पूजा करते समय उनके मन में प्रश्न उठता कि माँ की मूर्ति पाषाण मात्र है अथवा उसमें जीवन भी है। उनकी कठोर साधना एवं व्याकुल प्रार्थना पर द्रवित होकर जगन्माता ने प्रतिमा से चिन्मय रूप में प्रकट होकर, उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। तदुपरांत उन्होंने हिंदू परम्परा के वात्सल्य, मधुर, दास्य आदि भावों का आश्रय लेकर भी ईश्वरोपलब्धि की, तंत्र एवं वेदांत की साधना में भी सिद्धि पाई तथा इस्लाम एवं ईसाई धर्मों के निर्देश पर चलकर पैगम्बर मुहम्मद तथा ईसा मसीह का भी दर्शन प्राप्त किया। अपनी समस्त साधनाओं में सिद्धि पा लेने के पश्चात वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रत्येक धर्म मानव को ईश्वर तक ले जाने वाला एक एक सच्चा मार्ग है।

फिर जैसे पुष्प के प्रस्फुटित होने पर भौरों का झुंड अपने आप ही खिचा चला आता है, उसी प्रकार सभी तरह के धर्म पिपासुओं का दल दक्षिणेश्वर के परमहंस की दो बातें सुनने को उमड़ पड़ा। इनमें हिंदू-अहिंदू, धनी-दरिद्र, शिक्षित-अशिक्षित, वृद्ध-युवा, पुरुष-नारी सभी श्रेणी के लोग थे। उन दिनों सुचारुचालित पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से दिग्भ्रमित होकर बंगाल के अधिकांश नवयुवक अपनी धर्म-संस्कृति में आस्था खो रहे थे और उनमें से कुछ ईसाई-धर्म की ओर भी आकृष्ट हो रहे थे। हिंदू-संस्कृति पर ईसाई आक्रमण के प्रतिक्रियास्वरूप हिंदू समाज ने आत्मरक्षार्थ

आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज तथा अन्य सुधारक दलों को जन्म दिया, पर ये दल भी मूर्ति-पूजा, अवतारवाद आदि हिंदुत्व के अविभाज्य अंगों पर कठोर आघात करने लगे थे। उसी समय श्रीरामकृष्ण का जीवन प्रकाश में आया, जो सर्वांगीण हिंदू धर्म का जीवंत साक्ष्य था।

श्रीयुत केशवचंद्र सेन ब्राह्मसमाज के लोकप्रिय नेता एवं सुप्रसिद्ध वक्ता थे। ईसाई-धर्म की ओर उनका विशेष रुझान था और इंग्लैंड आदि देशों का भी वे दौरा कर आए थे। उस काल के अधिकांश और विशेषकर बंगाल के शिक्षित नवयुवक प्रेरणा एवं नेतृत्व के लिए उनकी ओर बड़ी आशा भरी दृष्टि से देखते थे। १८७५ ई. में केशव बाबू का श्रीरामकृष्ण के संपर्क में आना एक महान ऐतिहासिक घटना थी और इसके परिणाम बड़े दूरगामी हुए। श्रीरामकृष्ण के साथ अपनी मुलाकातों की बातें केशव बाबू ने अपने पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कीं, जिसके फलस्वरूप भारत का संपूर्ण शिक्षित समाज दक्षिणेश्वर के इन निरक्षर, पर ज्ञानी संत के विचारों एवं अनुभूतियों से परिचित हुआ। बड़े-बड़े देशी पंडित एवं विदेशी विद्वान उनका दर्शन करने तथा उनके दो शब्द श्रवण करने को लालायित हो उठे। इस प्रकार संपूर्ण शिक्षित समाज धीरे-धीरे उनकी ओर आकृष्ट हुआ और सर्वांगीण हिंदू धर्म के बारे में अपना दृष्टिकोण बदलने लगा। ब्राह्मसमाज के ही एक अन्य प्रसिद्ध नेता श्री प्रतापचंद्र मजूमदार ने **'Theistic Quarterly Review'** के अक्टूबर १८७९ ई. के अंक में श्रीरामकृष्ण के बारे में एक सुंदर लेख लिखा, जिसमें इस प्रभाव का वे निम्नलिखित शब्दों में वर्णन करते हैं —"उनके और मेरे बीच भला क्या सादृश्य है? कहाँ तो मैं यूरोपीय भावापन्न, सुसभ्य,

आत्मकेंद्रित, अर्द्धनास्तिक और तथाकथित शिक्षित युक्तिवादी हूँ और कहाँ वे एक अपढ़, निर्धन, ग्रामीण, अर्द्धमूर्तिपूजक और परिचयहीन हिंदू भक्त हैं! क्यों मैं उनकी बातें सुनने के लिए घंटों बैठा रहता हूँ? मैं, जिसने डिजरायली और फॉसेट के व्याख्यान सुने हैं, स्टैनली और मैक्समूलर के भाषण सुने हैं, समस्त यूरोपीय विद्वानों एवं धर्म नेताओं की वक्तृताएँ सुनी हैं, भला क्यों उनकी वाणी सुनते हुए मंत्रमुग्ध रह जाता हूँ?... और केवल मैं ही नहीं, बल्कि मेरे ही जैसे और भी दर्जनों लोग उनके पास इसी प्रकार जाया करते हैं।"

यह लेख प्रकाशित होने के कई वर्ष बाद स्वामी विवेकानंद की बारी आई। तब वे १८-१९ वर्ष के तरुण थे तथा नरेंद्रनाथ दत्त के नाम से जाने जाते थे। कॉलेज की शिक्षा पाकर तथा ब्राह्मसमाज के संपर्क में आकर नरेंद्रनाथ परम्परागत हिंदू धर्म में अपनी आस्था खो बैठे, मूर्तिपूजा न करने का प्रतिज्ञा-पत्र भर दिया और यहाँ तक कि ईश्वर के अस्तित्व में भी संदेह करने लगे। उनके मन में यह सहज प्रश्न उठने लगा कि यदि इस जगत् के कर्ता-धर्ता व संहर्ता के रूप में सचमुच ही किसी ईश्वर का अस्तित्व है, तो क्या किसी ने उनका दर्शन भी किया है? इस प्रश्न को लेकर वे अपने समय के सभी प्रमुख धर्माचार्यों तक गए, पर कोई भी उनकी शंका का समाधानकारक उत्तर नहीं दे सका। अंततः वे अपने कॉलेज के पादरी प्राध्यापक से इंगित पाकर दक्षिणेश्वर जाकर श्रीरामकृष्ण से मिले और उनके समक्ष भी अपना वही पुराना प्रश्न दुहराया —"क्या आपने ईश्वर को देखा है?" परंतु इस बार उन्हें एक अप्रत्याशित उत्तर मिला —"हाँ देखा है। जैसे तुझे देख रहा हूँ, उससे भी कहीं स्पष्ट

रूप से उन्हें देखता हूँ।" नरेंद्रनाथ के बौद्धिक संशय का कुहासा छँटने लगा और उनका अंतर आस्था एवं श्रद्धा की रवि- रश्मियों से उद्भासित हो उठा। आगामी चार वर्षों तक वे कॉलेज में पाश्चात्य शिक्षा पाने के साथ ही श्रीरामकृष्ण के सानिध्य में साधना एवं स्वाध्याय के द्वारा अध्यात्मविद्या भी आयत्त करते रहे। इस अद्भुत मिलन का सुप्रसिद्ध कवि रामाधारीसिंह 'दिनकर' ने इन शब्दों में वर्णन किया है— "वस्तुतः नरेंद्रनाथ जब रामकृष्ण की शरण गए, तब असल में नवीन भारत ही प्राचीन भारत की शरण गया था। अथवा यूरोप भारत के सामने आया था। रामकृष्ण और नरेंद्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का मिलन था।" स्वामी विवेकानंद स्वयं भी इस प्रसंग में कहते हैं—"आजकल मूर्तिपूजा को गलत बताने की प्रथा सी चल पड़ी है, मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था और इसके दंडस्वरूप मुझे एक ऐसे व्यक्ति के चरण-कमलों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी, जिन्होंने सब कुछ मूर्तिपूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था।"

स्वामी विवेकानंद तथा अन्य सहस्त्रों पाश्चात्य भावापन्न नवयुवकों को श्रीरामकृष्ण ने जो भारतीय संस्कृति का दुग्धपान कराया था, इस विषय में प्रसिद्ध क्रांतिकारी, दार्शनिक एवं योगी श्री अरविंद ने भी बंबई में १९ जनवरी १९०८ ई. को प्रदत्त अपने व्याख्यान में कहा था—"परमात्मा ने उन्हें बंगाल में भेजा और कलकत्ते के दक्षिणेश्वर मंदिर में नियुक्त किया। उत्तर एवं दक्षिण से, पूरब एवं पश्चिम से शिक्षित लोग, ऐसे लोग, जो विश्वविद्यालय के गौरव थे, और जिन्होंने वह सब कुछ पढ़

लिया था, जो यूरोप उन्हें पढ़ा सकता था, इन संन्यासी के चरणों में बैठने के लिए आए (और तभी से) मुक्ति का कार्य, भारत की उन्नति का कार्य प्रारंभ हो गया।"

ऑक्सफोर्ड के जर्मन प्राध्यापक मैक्समूलर ने कहा था— "श्रीरामकृष्ण एक मौलिक विचारक थे, क्योंकि उनकी शिक्षा-दीक्षा किसी विश्वविद्यालय की परिधि में नहीं हुई थी।" फ्रांस के सुप्रसिद्ध नोबल पुरस्कार विजेता मोशियो रोमाँ रोलाँ ने उन्हें **Man god** (नरदेव) और 'विश्वात्मा की अनुपम संगीत रचना' के रूप में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार विश्व के अनेक देशों के हिंदू; मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी विद्वानों, मनीषियों एवं विचारकों ने श्रीरामकृष्ण के अनुपम व्यक्तित्व के प्रति अदम्य आकर्षण का अनुभव किया है।

बड़ा ही विस्मय होता है यह सोचकर कि क्योंकर भारत के एक सुदूर गाँव में जन्मा एक निर्धन एवं अशिक्षित व्यक्ति विश्व भर के इतने सारे प्रतिभावान लोगों का श्रद्धा-भाजन एवं प्रेरणा का केंद्रबिंदु बन सकता है। परंतु थोड़ा सा विचार करने पर ही इसका कारण स्पष्ट समझ में आ जाता है। श्रीरामकृष्ण ने अपनी साधना में वैज्ञानिक पद्धति का सहारा लिया और साक्षात्कार किए बिना किसी भी बात को सत्य नहीं माना। अनुभूति पर आधारित होने के कारण ही उनकी उक्तियाँ इतना अपील करती हैं। महात्मा गाँधी लिखते हैं—"उनका जीवन हमें ईश्वर को प्रत्यक्ष रूप से देखने में समर्थ बताता है। ...उनकी उक्तियाँ एक पंडित के विचार मात्र नहीं, वरन् उनके जीवनग्रंथ के पृष्ठ हैं। वे उनकी अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्तियाँ हैं।" इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने धर्म को एक वैज्ञानिक एवं

यौक्तिक आधार प्रदान किया है।

आज जो धर्म के नाम पर अज्ञान, अंधविश्वास तथा सांप्रदायिक विद्वेष का राज्य चल रहा है, उसके लिए काफी कुछ हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली तथा सरकार की धर्मनिरपेक्षता की नीति ही उत्तरदायी है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता लगाकर यदि लोगों को धर्म के आलोक से वंचित रखा जाएगा तो फिर अधर्म का अंधकार फैलने से कौन रोक सकता है? यदि हमें धर्म के नाम पर प्रचलित अयुक्तिपूर्ण प्रथाओं, अंधविश्वासों, कट्टरता, पुनरुत्थान, जादू-टोने, रहस्यवाद, सांप्रदायिक कलह आदि से देश व समाज को बचाना है, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम शिक्षा के सभी स्तरों और विशेषकर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में धर्म की शिक्षा को अनिवार्य रूप से संयोजित कर दें। शिक्षा संस्थानों के उपयोग के लिए सभी धर्म के मूल तत्त्वों का सार संग्रह करना होगा और इस दिशा में श्रीरामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ दिशा-निर्देश कर सकती हैं, क्योंकि स्वामी विवेकानंद के शब्दों में, "श्रीरामकृष्ण का जीवन एक असाधारण ज्योतिर्मय दीपक है, जिसके प्रकाश में हिंदू धर्म के विभिन्न अंग एवं आशय समझे जा सकते हैं। शास्त्रों में निहित सिद्धांत-रूप ज्ञान के वे प्रत्यक्ष उदाहरण-स्वरूप थे। ऋषि और अवतार हमें जो वास्तविक शिक्षा देना चाहते थे, उसे उन्होंने अपने जीवन द्वारा दिखा दिया है। शास्त्र मतवाद मात्र है, रामकृष्ण उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति हैं। उन्होंने ५१ वर्ष में पाँच हजार वर्ष का राष्ट्रीय आध्यात्मिक जीवन जिया और इस तरह वे भविष्य की संतानों के लिए अपने आपको एक शिक्षाप्रद उदाहरण बना गए।"

माँ के सान्निध्य में (२७)

स्वामी विश्वेश्वरानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक श्री माँ सारदादेवी के शिष्य थे। मूल बंगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' के द्वितीय भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। –स.)

स्थान – उद्‌बोधन – ठाकुरघर

माँ सबेरे पूजा की तैयारी कर रही थीं। बातचीत के बीच मैंने उनसे कहा, "माँ, आपकी इतनी आसक्ति क्यों है? रात-दिन आप घोर संसारी के समान 'राधी', 'राधी' करती रहती हैं। इतने भक्त आते हैं, पर उनकी ओर जरा भी ध्यान नहीं। इतनी आसक्ति – क्या यह ठीक है? मैंने पहले भी कभी कभी उनसे ऐसा ही कहा था। उस समय माँ दीनता के स्वर में कहतीं, "हम लोग स्त्रियाँ हैं, हम लोगों का ऐसा ही होता है।" किन्तु आज माँ तनिक अधिक आवेश में आकर बोलीं, "तुम्हें ऐसा कहाँ मिलेगा? मेरे समान एक भी खोजकर निकालो तो सही? बात ऐसी है, जो लोग बहुत ईश्वर चिन्तन करते हैं उनका मन खूब सूक्ष्म तथा शुद्ध हो जाता हैं। इस प्रकार का मन जिसे पकड़ता है, उसे खूब जोरों से पकड़ता है। इसीलिए वह आसक्ति के समान प्रतीत होता है। बिजली की चमक काँच से दिखायी पड़ती हैं, काठ की खिड़कियों से नहीं।"

एक दिन मैंने माँ से कहा, "माँ, मेरे मन में खराब विचार नहीं उठते।" माँ तुरन्त चमक उठीं और मुझे रोकते हुए बोलीं, "ऐसा मत कहो, ऐसी बात कहते नहीं।"

और एक दिन मैंने उनसे कहा, "आप जो इतने लोगों को मंत्र देती हैं, पर उनकी कोई खोज खबर तो नहीं लेती हैं। उन लोगों का क्या हो रहा है क्या नहीं, इस ओर तो

आपका कोई ध्यान नहीं है। गुरु शिष्य की कितनी खोज खबर लेते हैं। उसकी उन्नति हो रही है या नहीं, यह देखते हैं। अतः इतने लोगों को मंत्र न देने से ही होता। जितने लोगों का ध्यान रख सकें उतने लोगों को ही मंत्र देना उचित है।" माँ ने कहा, "पर ठाकुर ने तो मुझे मना नहीं किया है। उन्होंने मुझे इतना सब समझाया तो फिर क्या ऐसी बात वे मुझसे नहीं कह सकते थे? मैने ठाकुर पर भार सौंप रखा है। उनसे मैं रोज कहती हूँ, "जो जहाँ है उसे देखो।' और बात यह है, ये सब ठाकुर के दिये मंत्र हैं, उन्होंने मुझे दिया है — सब सिद्ध मंत्र हैं।"

एक दिन बीज मंत्र के सम्बन्ध में चर्चा करते समय उन्होंने सब मंत्र मुझे कह सुनाया और कहा, "मेरे थैले में जो कुछ था, तुम्हारे सामने उड़ेल दिया। क्या तुम मंत्र दोगे?"

मैं–नहीं माँ, खुद का ही तो कुछ हुआ नहीं।

माँ–वह देने से ही हुआ। उसमें दोष क्या है? तुम लोग दे सकते हो।

मैं– माँ, मुझे सर्वत्यागी बना दीजिए, जिससे मुझमें किसी प्रकार की आसक्ति न रहे।

माँ–सर्वत्यागी तो हो ही, नहीं तो और क्या दो सिंग निकलेंगे?

और एक दिन जयरामवाटी में मैंने पूछा था, "ईश्वर की प्राप्ति किस प्रकार होती है? पूजा, जप, ध्यान — क्या इनके द्वारा होती है?"

माँ – किसी के द्वारा नहीं।

मैं —किसी से भी नहीं?

माँ —किसी से भी नहीं।

मैं —तो फिर किससे होती है?

माँ —केवल उनकी कृपा से होती है। फिर भी ध्यान, जप सब करना चाहिए जिससे मन का मैल दूर हो। पूजा, जप, ध्यान यह सब करना चाहिए। जैसे फूल के हिलाने-डुलाने से सुगन्ध का अनुभव होता है, चन्दन के घिसने से सुगन्धी निकलती है, उसी प्रकार भगवत् तत्त्व चिन्तन करते रहने से तत्त्वज्ञान का उदय होता है। यदि वासना रहित हो सको तो वह इसी क्षण हो जाएगा।

एक दिन जयरामवाटी में भोजन के बाद मैं जूठी थाली उठाकर ले जा रहा था कि माँ ने मेरा हाथ पकड़कर रोक दिया और मेरे हाथ से जूठी थाली खुद ले ली। मैंने कहा, "आप क्यों ऐसा कर रही है, मैं खुद ले जाता हूँ।" माँ ने इस पर कहा, "मैंने तुम्हारे लिए और क्या किया है? माँ की गोद में बच्चा टट्टी करता है और भी क्या कुछ करता है। तुम लोग तो देव-दुर्लभ धन हो।"

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी अखिलानन्द

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा रामकृष्ण मठ/मिशन के प्रथम अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द आध्यात्मिक भावों के एक अपूर्व ज्योतिपुंज थे। उनके बारे में लिखे गये निम्नलिखित संस्मरण हालीवुड से प्रकाशित होने वाले 'Vedanta and the West' पत्रिका के सितम्बर-अक्टूबर १९५४ अंक में प्रकाशित हुए थे और वहीं से अनुदित हुए हैं।—स.)

१९११ ई. के फरवरी माह की बात है। एक दिन मैं स्वामी प्रेमानन्दजी के दर्शन की इच्छा से स्वामी आत्मबोधानन्द के साथ बलराम बोस के घर गया। उन दिनों वे वहीं निवास कर रहे थे। वहाँ पहुँचते ही हमने देखा कि स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव की व्यवस्था के सिलसिले में कहीं बाहर जा रहे हैं। हमारे प्रणाम करने पर उन्होंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक देखा और हमारे साथ वार्तालाप करने को पुनः घर के भीतर लौट आये। उन्होंने कहा-"मठ में आना, वहाँ महाराज[1] हैं।"

दो या तीन दिनों बाद श्रीरामकृष्ण के जन्म-दिवस पर मैं अपने एक अन्य युवा मित्र के साथ दक्षिणेश्वर गया और वहाँ मन्दिर तथा ठाकुर के कमरे में कई घण्टे बिताए। फिर कुछ दूसरे भक्तों के सात नाव में बैठकर हम लोग बेलुड़ मठ पहुँचे। नाव से उतरते ही हमारी स्वामी तुरीयानन्दजी के साथ भेंट हुई। उन्होंने कहा —"महाराज हैं, जाकर उनसे मिलो।"

मठ के प्रमुख भवन के निकट पहुँचने पर हमें पता चला कि महाराज मन्दिर में हैं, अतः हम लोग वहीं चले गये। वहाँ हमने जो कुछ देखा, वह वस्तुतः हमारे जीवन का एक

---

१. स्वामी ब्रह्मानन्द

अविस्मरणीय दृश्य था। ठाकुरजी की पूजा समाप्ति पर थी और महाराज विग्रह को चँवर डुलाकर हवा कर रहे थे। उनकी आँखें एक अलौकिक आनन्द से दमक रही थीं। हम लोग मन्त्रमुग्ध से देखते रहे। थोड़ी देर बाद वे नीचे आहाते में उतर आये, हमने भी जाकर उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने सभी उपस्थित लोगों को आशीर्वाद दिया। तदुपरान्त उनके साथ भोजन करने को बैठे। स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी तुरीयानन्द तथा अन्य संन्यासीगण उनकी बगल में बैठे थे।

कुछ दिनों बाद श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव से सम्बन्धित सार्वजनिक समारोह हुआ। उस दिन मैं बड़े तड़के ही उठकर महाराज के दर्शन करने को गया। उस दिन उनसे दूर रह पाना मेरे लिए असम्भव सा हो उठा था। मेरे प्रणाम करने पर उन्होंने कुछ स्नेहपूर्ण शब्द कहे। आज जब मैं अपने उस दिन के व्यवहार का स्मरण करता हूँ तो मन ही मन हँस पड़ता हूँ। उस दिन भक्तों की कोई भी नई टोली आने पर मैं उनके साथ पुनः पुनः महाराज को प्रणाम करने जाता और प्रत्येक बार वे मेरी ओर देखकर कृपापूर्वक मुस्करा देते। ऐसा घण्टों तक चला था। तब तक भजन गाने के लिए कुछ निपुण गायक-वादक आ पहुँचे। सभी लोग महाराज को घेरकर बैठे गये। भजन के समय महाराज एक दिव्य भाव में थे।

एक विकट रोग के चलते मुझे एक वर्ष से भी अधिक काल तक बाहर रहना पड़ा था। विशेष चिकित्सा हेतु इलाहाबाद के लिए प्रस्थान करने के पूर्व मैं महाराज से मिलने बलराम बोस के मकान पर गया। उन्होंने थोड़ी देर तक मेरे साथ बातचीत की और कहा कि अपने इलाहाबाद निवासकाल में मैं स्वामी विज्ञानानन्दजी से मिलूँ। तदुपरान्त

उन्होंने एक वयस्क स्वामीजी से कहकर मेरे घर जाने की व्यवस्था करा दी।

इलाहाबाद जाकर मेरे स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार हुआ और तदुपरान्त मैं प्रायः प्रतिदिन स्वामी विज्ञानानन्दजी के पास जाया करता था। फिर मेरे कलकत्ता लौटने के समय स्वामी विज्ञानानन्दजी ने कहा—"जाकर महाराज से कहना कि मेरे अन्दर आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत कर दीजिए।" मैंने पूछा—"आप ही क्यों नहीं कर देते?" वे हँसने लगे और बोले—"नहीं तुम महाराज के पास जाओ। वे आध्यात्मिकता के Power House (महत् भण्डार) हैं। उनकी अनुभूतियों का कोई ओर-छोर नहीं।"

कलकत्ता लौटते ही मैं बेलुड़ मठ गया। इस बार मेरी भेंट सबसे पहले स्वामी प्रेमानन्दजी से ही हुई। मैंने उनसे रात में वहाँ ठहरने की अनुमति माँगी। वे मुझे तुरन्त स्वामी ब्रह्मानन्दजी के पास ले गये, जो गंगा की ओर मुख किये अकेले बैठे थे। जब मैं महाराज को प्रणाम कर रहा था उसी समय प्रेमानन्दजी ने उन्हें बताया कि मैं रात में यहीं ठहरना चाहता हूँ। महाराज ने तुरन्त अनुमति दे दी। स्नेहमयी जननी के समान स्वामी प्रेमानन्दजी ने मेरी वहाँ रहने की सारी व्यवस्था कर दी। मुझे वरिष्ठ संन्यासियों के साथ उन्हीं लोगों के कमरे में ठहरने की अनुमति मिल गयी।

अगला दिन मेरे जीवन का एक अविस्मरणीय दिन था। प्रातः जब मैंने महाराज को स्वामी विज्ञानानन्दजी के साथ हुई अपने अन्तिम वार्तालाप की बात कही तो वे बोले—"तुमने स्वामी विज्ञानानन्द को ही अपने अन्दर वह शक्ति जगा देने को क्यों नहीं कहा?"

मैंने उत्तर दिया—"मैंने उनसे कहा था।"

तदुपरान्त मैंने स्वामी विज्ञानानन्दजी की उनके बारे में कही हुई उक्ति दुहरा दी। सुनकर महाराज बड़े गम्भीर हो उठे और थोड़ी देर मौन बैठे रहे। अन्त में उन्होंने कहा—"इस जागरण के लिए थोड़ी तैयारी की आवश्यकता पड़ती है। तुम्हें दीक्षा लेनी होगी।"

मैंने अविलम्ब कहा—"महाराज, मेरे लिए जो भी आवश्यकता है, कर दीजिए।" उन्होंने बड़ी कृपापूर्वक मुझे कुछ यथोचित निर्देश दिये और आगे के लिए निर्देश प्राप्त करने को कुछ महीनों बाद पुनः आने को कहा।

वह काल व्यतीत हुआ तब महाराज वाराणसी में थे, अतः उनके दर्शन करने को मैं वहीं गया। प्रातःकाल चार बजे के थोड़े ही बाद मैं आश्रम में पहुँचा। बड़े विस्मय की बात है कि मैं ज्योंही महाराज के कमरे के समीप पहुँचा त्योंही उन्होंने तथा उनके सचिव स्वामी शंकरानन्द ने प्रायः एक साथ ही अपने द्वार खोले। महाराज बड़े की कृपालु रहे। इस बार उन्होंने मुझे आगे के लिए निर्देश दिये तथा आश्वासन एवं उत्साह भी प्रदान किये।

वाराणसी के आध्यात्मिक वातावरण के बारे में एक दिन महाराज ने कहा कि श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों को बताया था कि वहाँ देहत्याग करने वालों की मुक्ति हो जाती है। एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था कि वाराणसी के अद्भुत आध्यात्मिक परिवेश के कारण यदि कोई वहाँ थोड़ी सी भी साधना करे तो उसे आसानी से उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हो सकती हैं। एक दूसरे समय उन्होंने बताया था कि भिन्न-भिन्न तीर्थस्थानों में दिन के भिन्न-भिन्न कालों में

आध्यात्मिक प्रवाह की अनुभूति होती है। यदि कोई इसे समझकर उक्त प्रवाह के समय साधना कर सके तो उसका मन सहज ही एकाग्र हो जाता है।

कुछ महीनों बात मैं पुनः वाराणसी में ही महाराज से मिलने गया। दुर्गापूजा के दिन थे। इस बार भी उन्होंने बड़ा स्नेह व्यक्त किया और खूब उत्साहित किया।

इसके कुछ महीनों बाद जब मैं अपने कॉलेज की प्रवेशिका परीक्षा के पूर्व कलकत्ता लौटा, तो उन दिनों मैं मठ जाया करता था। अन्य समय जाने पर भय था कि कुछ विशिष्ट लोग मेरे इस आवागमन की बात जान लेने पर मेरे लिए समस्या खड़ी कर सकते हैं। एक दिन महाराज ने कुछ व्यक्तिगत निर्देश लेने के लिए अगले दिन आने को कहा। एक मिनट तक मैं पशोपेश में पड़ा रहा। पर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"आना, सब ठीक हो जाएगा।" मैं समझ गया कि उन्हें मेरे छिपकर आने की बात ज्ञात है, अतः मैं भी मुस्करा उठा। स्पष्ट था कि उन्हें सब कुछ ज्ञात है और विस्मय की बात तो यह है कि उस दिन से वह सारी समस्या भी समाप्त हो गयी। अज्ञात रूप से महाराज ने मेरे पथ के सारे अवरोध दूर कर दिये थे।

अपनी दीक्षा होने के पूर्व मैं प्रायः ही महाराज के दर्शन को जाया करता था। एक दिन वे मठ के बरामदे में मौन बैठे थे कि स्वामी प्रेमानन्दजी ने आकर उनसे कहा—"आप क्यों इस लड़के को बार-बार यहाँ आने को मजबूर करते हैं।" महाराज ने पहले मेरी ओर देखा फिर उनकी ओर और मुस्कराते हुए कहने लगे—"तुम कहते क्या हो! मैं उसे मठ में आने को मज़बूर करता हूँ! उसकी जैसी इच्छा हो

आये जाये...। यह उसी की जगह है।" इस पर दोनों ही एक बड़ी मनमोहक हँसी हँसने लगे। मैं भी बड़ा हर्षित हुआ। एक दूसरे दिन महाराज ने मुझे कहा था कि कॉलेज की पढ़ाई समाप्त हो जाने पर मैं संघ में सम्मिलित हो सकता हूँ।

आखिरकार महाराज ने मेरी दीक्षा के लिए एक दिन नियत कर दिया। वह श्रीरामकृष्ण का जन्मदिवस था। उस दिन प्रातःकाल ही मैं पुष्प तथा अन्य सामग्री लेकर कॉलेज के छात्रावास से चलकर बेलुड़ मठ पहुँचा और सभी चीजें महाराज के कमरे में रख दीं। उन्होंने मुझे गंगा में स्नान करके मन्दिर में आने का आदेश दिया। मैं स्नान करने को चला पर शीघ्र ही उन्होंने एक युवा स्वामीजी को मुझे बुला लाने भेजा, क्योंकि वे मन्दिर में जा चुके थे। मैं दौड़ता हुआ आ पहुँचा। मेरी दृष्टि जब महाराज पर पड़ी तो मुझे उनका वही भव्य व्यक्तित्व दीख पड़ा तो प्रथम भेंट के समय दिखा था। वे मुख्य मन्दिर के बरामदे में टहलते हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने कहा—"आओ, बेटा!" मैं आनन्दविभोर उनके पीछे हो लिया। हमारे अन्दर प्रवेश करते ही मन्दिर का द्वार बन्द कर दिया गया और वहाँ मात्र हम दोनों ही रह गये। दीक्षा के बाद दक्षिणा देनी पड़ती है, पर मैं एक अबोध बालक था और यह बात जानता न था। मन्दिर के बाहर आने के बाद महाराज ने अपने चरणों में अर्पित करने के लिए मेरे हाथ में एक छोटा सा पुष्प दे दिया।

मन्दिर में विशेष पूजा हो जाने के बाद महाराज, स्वामी प्रेमानन्द तथा अन्य वरिष्ठ संन्यासियों के साथ

बैठकर हम लोगों ने प्रसाद ग्रहण किया। कई सौ लोग आये हुए थे। अपराह्न में महाराज ने मुझे छात्रावास लौट जाने को कहा, ताकि मैं अधिक थक न जाऊँ।

१९१६ से १९१९ ई. तक महाराज ने अधिकांशतः बेलुड़ मठ तथा कलकत्ते में ही निवास किया था। मेरी ही आयुवर्ग के बहुत से युवक उनके इर्द-गिर्द एकत्र हो गये थे, जो प्रायः ही उनसे मिलने को आया करते थे। धीरे-धीरे हम लोगों की एक टोली गढ़ उठी और हम आपस में घनिष्ट मित्र बन गये। जब कभी महाराज कलकत्ते में होते तो मैं दोपहर को अथवा तीसरे पहर उनसे मिलने जाया करता था और इसी प्रकार काल व्यतीत होता रहा।

एक शुभ दिन जब मैं मठ में पहुँचा तो महाराज को अन्य संन्यासी एवं भक्तों के साथ भोजन करते देख मैं उनकी सेवा में लग गया। मैं उनके लिए पंखा डुलाता रहा और स्वयं भोजन के लिए नहीं बैठा। उस समय दूसरों के समक्ष तो उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, परन्तु बाद में मातृसुलभ स्नेह के साथ उन्होंने पूछा—"तुमने भोजन क्यों नहीं किया? तुम्हारे साथ यही तो मुश्किल है!" मै उनकी उस समय की स्नेहमय एवं खेदयुक्त मुखमुद्रा कभी न भूल सकूँगा। उन्हें मेरे स्वास्थ्य की बड़ी चिन्ता थी। ...मेरे छात्रावास के दिनों में महाराज मुझे प्रायः ही बाजार से अच्छा घी-मक्खन खरीदकर सेवन करने को कहते। वे निरन्तर मेरी मंगल कामना करते। उनका स्नेह मैं कितनी तीव्रतापूर्वक अनुभव करता था। इसका आसानी से अनुमान किया जा सकता है।

युवा संन्यासी तथा भक्तगण संध्या को ध्यान करने के पश्चात् महाराज के पास समवेत हुआ करते थे। कभी वहाँ

भजन होते, तो कभी गहन नीवरता छायी रहती। उस समय हम सभी वहाँ बैठकर ध्यान करते। हमारे जीवन का वह एक अविस्मरणीय काल था। तब बिना किसी के कोई प्रश्न किये महाराज शायद ही कुछ बोलते। यदि हमें अपनी साधना के बारे में किन्हीं निर्देशों की आवश्यकता होती, तो हम बड़े सबेरे अथवा दोपहर को उनसे मिलने जाते। हम सब उनके प्रति एक अद्भुत आकर्षण का अनुभव करते मानो हमारा सारा अस्तित्व ही किसी उच्च तथा महिमामय वस्तु की ओर खिंचा जा रहा हो।

जब कभी मैं एक-दो दिन बाद महाराज के पास जाता, तो वे कहते —"क्या बात है, आजकल तुम दिखाई नहीं पड़ते!" यदि मैं उत्तर देता —"क्यों महाराज, मैं परसों ही तो आया था।" तो वे कहते —"ओह, तुम और तुम्हारा परसों!"

एक दिन महाराज एक भक्त के घर[२] जा रहे थे। मैं महाराज के दो अन्य शिष्यों[३] के साथ वहाँ उनसे मिलने को गया। हम लोग महाराज के सान्निध्य में बैठे हुए थे कि एक युवा संन्यासी आकर एक भक्त के बारे में पूछने लगे, जो हमारे कालेज के छात्रावास में कुछ गड़बडी उत्पन्न कर रहे थे। विश्वविद्यालय से सहायता लेकर वह छात्रावास प्रारम्भ करने में मेरा प्रमुख हाथ था।

---

२. स्वामी अम्बिकानन्द के पूर्वाश्रम का घर जो रामकृष्णपुर हावडा में स्थित है।

३. परवर्ती काल में वे स्वामी विविदिषानन्द तथा स्वामी तेजसानन्द के नाम से परिचित हुए।

महाराज ने पूछा—"क्या बात है? वहाँ क्या घटना हुई?"

मैंने संक्षेप में सारी वस्तुस्थिति कह सुनायी।

उन्होंने कहा—"उस व्यक्ति के साथ मिलकर छात्रावास की स्थापना करते समय तुमने यह बात मुझे क्यों नहीं बतायी?"

मैंने उत्तर दिया—"महाराज मैंने सोचा कि वे एक भक्त हैं, अतः कोई समस्या न होगी।"

इस पर महाराज कह उठे—"अरे, मैंने ऐसे कितने ही भक्त देखे हैं।"

तत्पश्चात् महाराज लगभग एक घण्टे तक हमारे समक्ष मानवीय सम्बन्धों एवं क्रियाकलापों पर बोलते रहे। उन्होंने कहा—"बेटा! तुम किसी की चाहे कितनी भी मदद करो, परन्तु तुम्हारी एक भी चीज उसे नापसन्द हो, तो वह उसी को स्मरण रखेगा और तुम्हारी सारी भलाई की बातें भूल जाएगा। वह सर्वत्र तुम्हारी निन्दा करता फिरेगा। यह संसार ही ऐसा है। विद्यासागर महाशय बिना किसी भेदभाव अथवा सोच-विचार के सबकी सहायता करते थे। पर अन्त में जिन लोगों ने उनकी सेवा तथा कृपा प्राप्त की, वे ही उनके निन्दक हो गये। इस पर भी वे उन्हीं लोगों की पुनः पुनः सहायता करते रहते थे। उनके जीवन के अन्तिम काल में यदि कोई आकर उन्हें सूचित करता कि अमुक सज्जन आपकी आलोचना कर रहे थे, तो वे क्षण भर सोचकर कहते— 'क्यों? क्या मैंने कभी उनकी कोई भलाई की है, जो वे मेरा अनिष्ट चाहते हैं?' इस उदाहरण से तुम सामान्य लोगों का स्वभाव समझ सकते हो। परन्तु

साधु-पुरुष अपना स्वभाव नहीं छोड़ते।" तदुपरान्त उन्होंने एक कहानी बतायी।

एक महात्मा एक नदी के तट पर बैठकर ध्यान कर रहे थे। सहसा उन्होंने देखा कि एक बिच्छू नदी के प्रवाह में पड़ा बहा जा रहा है और जल से अपनी प्राणरक्षा के हेतु संघर्ष भी किए जा रहा है। महात्मा उसे उठाकर किनारे पर लाने लगे कि बिच्छू ने उन्हें डंक मार दिया। थोड़ी देर बाद वह बिच्छू पुनः नदी में गिर पड़ा। महात्मा ने उसे पुनः पानी से उबारा और बिच्छू ने पुनः उन्हें डंक मारा। वे पीड़ा से छटपटाने लगे। कुछ काल बाद उन्होंने देखा कि बिच्छू पुनः पानी में डूब रहा है। वे दुविधा में पड़ गये कि क्या करें। फिर उन्होंने मन ही मन सोचा—"बिच्छू का स्वभाव है डंक मारना और साधु का स्वभाव है पीड़ित प्राणियों की सेवा करना।" अतः उन्होंने बिच्छू को फिर उठा लिया, उसने उन्हें फिर डंक मारा, परन्तु इस बार वे उसे नदी से काफी दूरी पर छोड़ आये ताकि वह पुनः पानी में न पड़ जाए।

इस कहानी के माध्यम से महाराज ने सदा-सर्वदा के लिए मेरे मन में यह बात अंकित कर दी कि साधु का सच्चा भाव तथा स्वभाव क्या होना चाहिए। वे मुझे भविष्य के लिए शिक्षा दे रहे थे कि अन्तर्मानवीय परिस्थितियों में मुझे कैसा व्यवहार करना चाहिए।

अभी मेरी स्नातक की पढ़ाई चल ही रही थी कि महाराज ने ठीक कर दिया कि मठ में सम्मिलित होने के पश्चात् मुझे मद्रास जाना होगा। इन्होंने कहा—"इस निर्णय की बात अभी किसी पर प्रकट न करना।" फिर बोले—"मैं तुम्हें वहाँ इसलिए भेज रहा हूँ कि वहाँ तुम्हारी ही उमर के

अवनी[४] आदि कई लड़के हैं। तुम लोगों के बीच अच्छी मित्रता हो जाएगी।"

संघ में सम्मिलित होने के पश्चात् जब मैं महाराज के पास निवास करने भुवनेश्वर गया तो वहाँ वे मेरे प्रति बड़े ही कृपालु एवं उदार रहे। सुबह शाम वे मुझे अपने साथ टहलने को ले जाते। बहुधा हमारे बीच कोई बात नहीं होती, मैं उनका मौन अनुसरण करता। एक दिन उन्होंने मुझे वाराणसी के सेवाश्रम का इतिहास बताया कि किस प्रकार वह संस्था चन्द पैसों से प्रारंभ होकर अब विशाल आकार धारण कर चुकी है तथा रोगियों, पीड़ितों एवं वृद्धों की सेवा में निरत है।

भुवनेश्वर निवास काल में कभी कभी मैं महाराज के लिए भोजन पकाता था। वे विनोदपूर्वक कहते—"यहीं रहकर खाना पकाते रहना।" परन्तु यह बात सदा उनके मन में बनी रहती थी कि मुझे मद्रास भेजना है। एक दिन जब मैं बरामदे में महाराज के सामने खड़ा था तो वे एक वयस्क भक्त से कहने लगे—"मैं इस लड़के को मद्रास इसलिए भेज रहा हूँ ताकि वह अंग्रेजी बोलना सीख जाए।" सच पूछो तो मैंने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि मुझे अमेरिका में कार्य करना होगा। उसी समय कलकत्ता से एक स्वामीजी का पत्र आया कि संघ के महासचिव स्वामी सारदानन्दजी की इच्छा है कि तुम कलकत्ते में आकर एक विद्यालय प्रारम्भ करो। एक धनाढ्य सज्जन ने इस योजना के लिए आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा था और संघ में प्रवेश लेने के पूर्व अपने विद्यार्थी जीवन में मैं इस प्रस्ताव

४ स्वामी प्रभवानन्द

से जुड़ा था। वह पत्र आते ही महाराज ने उसी रात मुझे मद्रास भेजने का निश्चय किया। उनके साथ रहकर उनकी सेवा करने की मेरी इच्छा जानकर महाराज ने कहा—"क्या तुम सोचते हो कि जो लड़के मुझसे दूर रहकर ठाकुर का कार्य कर रहे हैं, वे मेरी सेवा नहीं कर रहे हैं?" उनके इन शब्दों पर मैं मौन रह गया।

बलराम बोस के पुत्र तथा महान भक्त रामबाबू ने महाराज के पास जाकर मुझे कुछ दिन और रख लेने का आग्रह किया ताकि मैं महाराज एवं उनकी टोली के साथ पुरी भी जा सकूँ। महाराज ने कहा—"नहीं राम, मैं उसे अविलम्ब मद्रास भेजना चाहता हूँ।" प्रस्थान करने के पूर्व मैंने महाराज से पूछा कि क्या निकट भविष्य में उनके मद्रास आने की सम्भावना है? उन्होंने हामी भरी। मैंने यह भी पूछा कि अवतारों तथा महापुरुषों के बारे में आने वाले स्वप्न क्या सत्य होते हैं? उन्होंने कहा—"हाँ, ऐसी अनुभूतियाँ वास्तव में सत्य है।" तत्पश्चात् मैं मद्रास के लिए रवाना हुआ।

महाराज का मद्रास में आगमन हुआ। वहाँ एक दिन उन्होंने मुझे अपने साथ टहलने चलने को कहा। रास्ते में हम लोग एक वृक्ष के नीचे ठहर गये और उन्होंने लगभग दो घण्टे तक मेरे साथ वार्तालाप किया। उन्होंने बताया कि यदि लोग अविवेकी हो और हमें हानि पहुँचाने का प्रयास करें तो हमें उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

हमारे एक केन्द्र के कुछ लड़कों ने कुछ गड़बड़ी की थी और इस पर कुछ वरिष्ठ संन्यासियों ने महाराज से सिफारिश की थी कि उन्हें मठ से निष्कासित कर दिया जाए। उन्हें यह सूचित किया गया था कि ये लड़के अपने

स्वभाव तथा संस्कारों के कारण मठ में रहने के उपयुक्त नहीं हैं। परन्तु महाराज ने कहा—"देखो, साधु-महात्माओं के साथ तो कोई भी रह सकता है, परन्तु मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति जताने तथा सामान्य लोगों की सहायता करने के लिए एक विशेष गुण की आवश्यकता होती है।" मुझे ज्ञात है कि महाराज ने उन लड़कों के प्रति कितने स्नेह तथा क्षमा का भाव व्यक्त किया था और इस प्रकार उन लोगों का जीवन रूपान्तरित हो गया था। उन्होंने कहा—"यदि मैं एक कम्बल से चुन-चुनकर रोएँ निकालने लगूँ तो फिर बचेगा ही क्या?"

अपने अतीत जीवन का सिंहावलोकन करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज को मेरा सारा भविष्य ज्ञात था और उसी के अनुसार उन्होंने मुझे व्यक्तियों एवं समस्याओं के बीच कैसे व्यवहार करना इस विषय में निर्देश दिए थे। इस प्रसंग में उन्होंने कहा था—"देखो, श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'सहो, सहो, सहो। जो सहता है सो रहता है, जो नहीं सहता वह बरबाद हो जाता है'।" फिर उन्होंने यह भी कहा—"सत्य बोलना, पर सदा प्रिय सत्य ही बोलना, कटु सत्य कदापि न बोलना।" इन दो महत्वपूर्ण निर्देशों ने अनेक नाजुक अवसरों पर मेरी सहायता की और भारत एवं अमेरिका के मेरे विनम्र जीवन की कई समस्याओं का निराकरण किया है।

एक दिन मैं महाराज के कमरे में जाकर उनके अत्यन्त समीप बैठ गया। वे मेरे उन दिनों के बारे में कहने लगे जब मैं अपनी बीमारी के दिनों में कलकत्ते में पहली बार उनसे मिलने को आया था। मुझे यह जानकर बड़ा ही विस्मय

हुआ कि मैं उस दिन उनके लिए जो छोटा-मोटा उपहार लाया था, उसकी भी उन्हें स्पष्ट स्मृति थी।

१९२१ ई. में, मद्रास में मेरी संन्यास की दीक्षा हुई जो मेरे जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। एक दिन मैं उनके कमरे में जाकर चुपचाप बैठा था।

उन्होंने पूछा—"क्यों जी, तुम्हारा संन्यास अभी तक नहीं हुआ?"

मैंने मुस्कराते हुए कहा—"नहीं, महाराज!"

इस पर वे बोले—"ठीक है, सारी व्यवस्था कर लो। स्वामी शिवानन्द और स्वामी शर्वानन्द से भी कह दो।"

मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न था। सारी प्रारम्भिक तैयारियाँ तथा अनुष्ठान दिन में ही सम्पन्न हो गए और अगले दिन बड़े सबेरे ही स्वामी प्रभवानन्द और मैं संन्यास व्रत में दीक्षित हो गये।

फिर जिस दिन महाराज ने मद्रास रामकृष्ण मिशन के विद्यार्थी भवन का उद्घाटन किया, उस दिन एक और भी स्मरणीय घटना हो गयी। बड़े स्नेह तथा अनुग्रहपूर्वक महाराज ने मुझे पूजा के लिए आवश्यक तैयारी करने को भेजा, फिर वे मठ के अन्य संन्यासी एवं भक्तों के साथ शोभायात्रा में नवनिर्मित शिक्षा संस्थान तक ले जाये गये। वहाँ लगभग चार-पाँच सौ लोग उपस्थित थे। शोभायात्रा जब भवन की ओर जा रही थी तो उसके कुछ सौ गज पूर्व ही मैं महाराज की ओर बढ़ा। उनके समीप पहुँचते ही मुझे एक अवर्णनीय अनुभूति हुई। विस्मय की बात तो यह है कि वहाँ उपस्थित सभी लोगों को एक असाधारण सी अनुभूति

हुई, मानो उन्हें चेतना के एक उच्चतर स्तर में उन्नीत कर दिया गया हो। अगले दिन प्रातःकाल स्वामी शिवानन्दजी को प्रणाम करते समय जब मैंने उनके समक्ष यह प्रसंग उठाया तो उन्होंने कहा—"हाँ, महाराज में एक साथ ही अनेक लोगों को उच्च भाव में उन्नीत कर देने की क्षमता है।"

महाराज की उपस्थिति काल में ही मद्रास मठ में दुर्गापूजा का अनुष्ठान होने पर भी कुछ ऐसी ही घटना हुई थी। वे कुछ दिन मेरे स्मृतिपटल पर सदा-सर्वदा के लिए अंकित हो गये हैं। पूजा के अन्तिम दिन सभी उपस्थित लोगों को एक अनिर्वचनीय आनन्द तथा उदात्त अवस्था का बोध हुआ था।

मेरे मद्रास के दिनों में वहाँ एक अंग्रेज महिला आयी थीं, जो एक मानसिक विक्षोभ के दौर से गुजर रही थीं। मेरी सलाह पर वे कलकत्ता जाकर महाराज से मिलीं। बाद में श्रीलंका लौटते समय जब वे मद्रास में ठहरीं तो उनसे उनके वहाँ के अनुभव सुनने को मिले। अपनी अशान्त मनःस्थिति में जाकर महाराज को प्रणाम करने पर उन्होंने जब इनको आशीर्वाद दिया, उसी समय इन्हें एक उच्च आध्यात्मिक अनुभूति हुई, जिसके फलस्वरूप इनका सारा कष्ट जाता रहा और मन एक सहज आनन्द एवं शान्ति से परिपूर्ण हो उठा था। उनके जीवन में एक आमूल-चूल परिवर्तन आ गया था।

रामकृष्ण मिशन के वार्षिक प्रतिवेदन का सार-संक्षेप

रामकृष्ण मिशन का ८२ वाँ वार्षिक साधारण सम्मेलन बेलुड मठ में रविवार, २२ दिसम्बर १९९१ को अपराह्न ३.३० बजे सम्पन्न हुआ। रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की। मिशन के सदस्यों के समक्ष पेश किये गये शासी-निकाय के रिपोर्ट (१९९०-९१) का सार-संक्षेप निम्नलिखित हैं–

इस वर्ष के महत्वपूर्ण विकास-कार्यों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं– हार्लेम (नेदरलैण्ड्स) में एक नया शाखा-केन्द्र खोला गया, गंगाजल को पेय बनाने के लिए बेलुड मठ में जल-परिशोधक-संयन्त्र प्रारम्भ हुआ, बिहार में एक लघुसंख्यक आदिवासी जाति के लिए एक सार्वजनिक-केन्द्र सहित १७ सस्ते आवास-गृहों का निर्माण हुआ और आन्ध्रप्रदेश में एक पुनर्वास योजना के अन्तर्गत ४ आश्रयस्थल-सह-सार्वजनिक केन्द्रों तथा २०० चक्रवात-प्रूफ गृहों के निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ।

राहत एवं पुनर्वास कार्य: आलोच्य वर्ष में रामकृष्ण मिशन ने ५२.४५ लाख रुपये व्यय करके बृहत् पैमाने पर राहत एव पुनर्वास के कार्य किये। इसके अतिरिक्त १४.१० लाख रुपये मूल्य की सामग्री दुर्दशाग्रस्त लोगों के बीच वितरित की गयी।

कल्याण-कार्य: निर्धन छात्रों, रोगियों तथा वृद्ध व असहाय नर-नारियों को मदद पहुँचाने के मद में मिशन ने ६१.६१ लाख रुपये की राशि व्यय की।

चिकित्सा-कार्य: मिशन ने अपने ९ अस्पतालों एवं चल-चिकित्सालयों सहित ७९ चिकित्सालयों के द्वारा सराहनीय चिकित्सा-कार्य किये। लगभग ६.८७ करोड़ रुपये व्यय करके करीब ४३ लाख से अधिक रोगियों की सेवा की गयी।

शैक्षणिक-कार्य: हमारे शिक्षण-सस्थानों के परीक्षाफल पूर्वानुरूप ही बहुत अच्छे रहे। मिशन ने ७६० शिक्षण-संस्थानों का सचालन किया, जिनमें शिक्षार्थियों की कुल सख्या १,०२,९५२ थी। इस कार्य में मिशन ने २३.६९ करोड़ रुपये की राशि व्यय की।

ग्रामीण एवं जनजाति कल्याण-कार्य : २.२९ करोड रुपये खर्च करके मिशन ने देश के कई ग्रामीण एवं आदिवासी अचलों में बृहत् पैमाने पर कार्य किये।

विदेशों में कार्य: विदेश स्थित हमारे केन्द्र मुख्यत: धर्मप्रचार के कार्य में संलग्न रहे।

देश एवं विदेश में, मुख्यालय के अतिरिक्त, रामकृष्ण मिशन एवं रामकृष्ण मठ के कुल मिलाकर क्रमश: ७९ एवं ७६ शाखा-केन्द्र थे।